वरुणसूक्त-उषः सूक्त-विष्णुसूक्तद्वय-पृथिवीसूक्त-शान्त्यध्याय समन्वितः—

वैदिक-सूक्त-संग्रहः ।

सायणभाष्य-महीधरभाष्य-गायत्रीभाष्य-मन्त्रार्थप्रकाशिकाख्य-टीकासहितः ।

[काशीस्थराजकीयसर्वविद्यशास्त्रिपरीक्षायां निर्द्धारितः]

टीकाकारः—

महामहोपाध्याय पं० श्रीविद्याधरशास्त्रिपुत्रः—

वेदाचार्यः पं० श्रीवेणीरामशर्मा गौडः ।

[अध्यापकः—गोयनका-संस्कृत-महाविद्यालयः, काशी]

प्रकाशकः—

र खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स

संस्कृत बुकडिपो,

कचौड़ीगली, बनारस—१

श्रीहरिः

भूमिका

वेद हमारा प्राचीन धर्मग्रन्थ है। इस धर्मग्रन्थ द्वारा ही हमारे प्राचीन ऋषि—महर्षियोंने लोकोत्तर चिरस्थायी कीर्ति प्राप्त की है। आज भी 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' इस मनु भगवान् के प्रमाणवाद के अनुसार भूत, भविष्य एवं वर्तमान किसी भी वस्तु का निश्चय करने के लिए केवल वेद ही शरण है।

जो वेद हमारा सर्वस्व है, आज हम उस वेद से तथा उसके यथार्थ ज्ञान से सर्वथा अनभिज्ञ पाये जाते हैं, यह हमारे लिए लज्जा की बात है। वर्तमान समय में वेद की अध्ययनाध्यापन—परम्परा की न्यूनता को देखकर वेदप्रचारार्थ 'काशीस्थ गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज' के अधिकारियों ने इस वर्ष सन् १९५१ से सर्वविध शास्त्रि-परीक्षा के प्रथम खण्ड में अनिवार्य रूप से ऋग्वेद, अथर्ववेद और शुक्लयजुर्वेद के कतिपय सूक्त रख दिये हैं। शास्त्री-परीक्षा में निर्दिष्ट सभी सूक्तों को सायणादि भाष्य एवं 'मन्त्रार्थ प्रकाशिका' नाम की हिन्दी टीका से समन्वित कर हमने 'वैदिक-सूक्त-संग्रह' नाम का एक परीक्षोपयोगी सुन्दर संस्करण तैयार किया है। इस संस्करण में हमने ऋग्वेदीय सूक्तों में केवल महर्षि सायणाचार्यकृत सर्वोत्तम सरल 'सायण-भाष्य' ही दिया है। यद्यपि ऋग्वेद के स्कन्दस्वामी आदि के अन्य भी अनेकों भाष्य मुद्रित और लिखित हमारे पास प्रस्तुत हैं, किन्तु इनसे परीक्षार्थियों का कोई विशेष लाभ न देख कर हमने केवल 'सायण-भाष्य' का ही उपयोग किया है।

अथर्ववेदीय 'पृथिवीसूक्त' पर सायणाचार्य ने भाष्य न लिखकर केवल उक्त सूक्त का विनियोग लिखा है। अतः सायण-भाष्य उपलब्ध

न होने के कारण हमने 'पृथिवीसूक्त' पर 'गायत्रीभाष्य' दिया है, जो कि परीक्षार्थियों के लिए अत्यन्त सरल और उपादेय होगा।

शुक्लयजुर्वेदीय 'शान्त्यध्याय' का केवल 'महीधर-भाष्य' दिया है, जो कि सरल और मन्त्रार्थ-प्रकाशक है।

उपर्युक्त सभी सूक्तों की 'मन्त्रार्थ-प्रकाशिका' नाम की हिन्दी टीका की गयी है, जो कि मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को बतलाने में विशेष सहायक होगी। मन्त्रार्थ में सायण-भाष्यानुसार मन्त्रों के वास्तविक अर्थ को दर्शाने की विशेष चेष्टा की गयी है। जिसकी विशेषता परीक्षार्थियों को स्वतः प्रतीत होगी।

शास्त्री-परीक्षा में निर्दिष्ट ऋग्वेदादि के सूक्तों को सरल करने की दृष्टि से हमने प्रत्येक मन्त्र का पदपाठ, भाष्य और हिन्दी में अर्थ दिया है। शुक्ल यजुर्वेद के ३६वें अध्याय में पदपाठ जानबूझकर नहीं दिया गया है। क्योंकि यह अध्याय 'रुद्राष्टाध्यायी' में होने के कारण प्रायः सभी को कण्ठस्थ रहता है। और कण्ठस्थ होने के कारण सरलता भी स्वाभाविक है।

१ (क) ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त का ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग एक ही है। किन्तु अथर्ववेदीय 'पृथिवी-सूक्त' और शुक्लयजुर्वेदीय 'शान्त्यध्याय' में यह बात नहीं है। अथर्ववेदीय पृथिवी-सूक्त के ऋषि और देवता तो एक-एक ही हैं, किन्तु छन्द और विनियोग मन्त्र के पृथक्-पृथक् हैं। इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेद के ३६वें अध्याय के—शान्त्यध्याय के—समस्त मन्त्रों के ऋषि और विनियोग तो एक-एक ही हैं, किन्तु छन्द और देवता पृथक् २ हैं।

(ख) ऋग्वेद के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में महर्षि सायण ने अपने भाष्य में ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग का उल्लेख किया है।

(ग) अथर्ववेद के 'पृथिवी-सूक्त' के प्रारम्भ में इस सूक्त के ऋषि और देवता का उल्लेख टिप्पणी में किया गया है। पृथिवीसूक्त के विभिन्न मन्त्रों के विभिन्न छन्दों का उल्लेख प्रस्तुत भूमिका में ही किया गया है और पृथिवी-सूक्त के विनियोग का उल्लेख

जो स्वयं सायणाचार्य ने किया है, उसे भी भूमिका में दिया जा रहा है।

(घ) शुक्लयजुर्वेद के ३६वें अध्याय के—'शान्त्यध्याय' के—प्रारम्भ में उक्त अध्याय के ऋषि और विनियोग का उल्लेख टिप्पणी में किया गया है। शान्त्यध्याय के प्रत्येक मन्त्रों के छन्द और देवता का उल्लेख महीधर ने अपने भाष्य में पृथक्-पृथक् किया है। अतः जिज्ञासु परीक्षार्थियों को ऋग्वेदादि सूक्तों के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग का परिज्ञान उपर्युक्त लेखानुसार करना चाहिये।

हमने ऋग्वेद के चारों सूक्तों के प्रत्येक मन्त्र का विषय प्रत्येक मन्त्र के ऊपर पृथक्-पृथक् दे दिया है। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त और शुक्लयजुर्वेद के शान्त्यध्याय के मन्त्रों में विषय नहीं दिया गया है। क्योंकि अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त के सभी मन्त्रों का विषय प्रायः एक-सा ही है अर्थात् सभी मन्त्रों में किसी-न-किसी वर-विशेष की माँग की गयी है। यही स्थिति शुक्लयजुर्वेदीय शान्त्यध्याय की है। इसके भी सभी मन्त्रों में शान्ति-कामनार्थ ही स्तुतिरूपा प्रार्थना की गयी है। अतः परीक्षार्थियों को भूमिसूक्त और शान्त्यध्याय का संस्कृत-हिन्दी टीका से विषय-ज्ञान-सम्पादन करना अधिक उचित होगा।

सूक्त-शब्दार्थ

जो वेदमन्त्रसमूह एकदैवत्य और एकार्थप्रतिपादक हो, उसे 'सूक्त' कहते हैं।

बृहद्देवता में सूक्त-शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—

'सम्पूर्णं ऋषिवाक्यं तु सूक्तमित्यभिधीयते।'

सूक्तों के भेद

वृहद्देवता (१।१६) में लिखा है—

'देवतार्षार्थछन्दस्तो वैविध्यं च प्रजायते।
ऋषिसूक्तं तु यावन्ति सूक्तान्येकस्य वै स्तुतिः ॥
श्रूयन्ते तानि सर्वाणि ऋषेः सूक्तं हि तस्य तत्।
यावदर्थसमाप्तिः स्यादर्थसूक्तं वदन्ति तत् ॥
समानछन्दसो याः स्युस्तच्छन्दः क्तमुच्यते।
वैविध्यमेवं सूक्तानामिह विद्याद्यथायथम् ॥'

अर्थात् देवतासूक्त, ऋषिसूक्त, अर्थसूक्त और छन्दसूक्त—ये चार प्रकार के सूक्त होते हैं।

वृहद्देवता में चार प्रकार के सूक्तों का वर्णन किया गया है, किन्तु साधारणतया सूक्त दो प्रकार के होते हैं—क्षुद्रसूक्त और महासूक्त।

जिस सूक्तमें कम से कम तीन ऋचा हों, उसको 'क्षुद्रसूक्त' कहते हैं और जिस सूक्त में तीन से अधिक ऋचा हों, उसे 'महासूक्त' कहते हैं। वरुणसूक्त, उषःसूक्त और विष्णुसूक्त आदि की गणना महासूक्तों में है।

वरुणसूक्त के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के २५ वें सूक्त का नाम 'वरुणसूक्त' है। इस सूक्त के शुनःशेप ऋषि, गायत्री छन्द, वरुण देवता हैं और शुनःशेप के आख्यान में इसका विनियोग किया जाता है।

उषःसूक्त के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११३ वें सूक्त का नाम 'उषःसूक्त'

है। इस सूक्त के आङ्गिरस कुत्स ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और [1]उषा देवता हैं। प्रातरनुवाक नामक शस्त्र में उषोदेवता वाले त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रसमुदाय में इसका विनियोग होता है।

विष्णुसूक्त (प्रथममण्डल) के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १५६ वें सूक्त का नाम 'विष्णुसूक्त' है। इस सूक्त के दीर्घतमा ऋषि, जगती छन्द और विष्णु देवता हैं। उक्थ्य के तृतीय सवन में अच्छावाकशस्त्र इसका विनियोग होता है।

विष्णुसूक्त (सप्तम मण्डल) के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के १०० वें सूक्त का नाम 'विष्णुसूक्त' है। इस सूक्त के वसिष्ठ ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द और विष्णु देवता हैं। उक्थ्य के अच्छावाकशस्त्र में इसका विनियोग होता है।

पृथिवीसूक्त के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

अथर्ववेद के १२ वें काण्ड के प्रथम अनुवाक के प्रथम सूक्त का नाम 'पृथिवीसूक्त' (भूमिसूक्त) है। इस सूक्त के अथर्वा ऋषि और भूमि देवता हैं। छन्द और विनियोग इस भूमिका में पढ़िये।

शान्त्यध्याय के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग

शुक्लयजुर्वेद के ३६ वें अध्याय को 'शान्त्यध्याय' कहते हैं। इस अध्याय के दधीचि ऋषि हैं। छन्द और देवता का उल्लेख महीधर ने प्रत्येक मन्त्र के भाष्य में पृथक्-पृथक् किया है। विनियोग तो शान्ति-पाठ ही है।

---

१ सम्पूर्ण उषःसूक्त के 'उषा' देवता हैं, किन्तु उषःसूक्त के प्रथम ऋचा के उत्तरार्ध के 'रात्रि' भी देवता हैं।

अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त के मन्त्रों के छन्दों का नाम

[स्वाध्यायमण्डल द्वारा प्रकाशित तथा पं० श्रीपादशास्त्री सातवलेकर द्वारा सम्पादित अथर्ववेद संहिता (पृ० २६९) में से हम पृथिवीसूक्त के छन्दों के नाम उद्धृत कर रहे हैं। श्री सातवलेकरजी ने अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त के ५७ मन्त्रों के ही छन्दों का नामोल्लेख किया है, अवशिष्ट ६ मन्त्रों के छन्दो का उल्लेख नहीं किया है। जिन ६ मन्त्रों के छन्दों के नाम रह गये हैं, उन मन्त्रों की संख्या इस प्रकार है—३, १७, २९, ३१, ५५ और ६०।

अब हम उपर्युक्त अवशिष्ट ६ मन्त्रों के छन्दों के नाम दे रहे हैं। श्री सातवलेकरजी द्वारा लिखित ५७ मन्त्रों के छन्दों के नाम (क) में देखिए और हमारे लिखे हुए ६ मन्त्रों के छन्दों के नाम (ख) में देखिए।]

(क) मन्त्र १ का त्रिष्टुप् छन्द, २ का भुरिक् छन्द, ४, ५, ६, १०, ३८ का त्र्यवसाना षट्पदा जगती छन्द, ७ का प्रस्तारपंक्ति छन्द, ८, ११ का त्र्यवसाना षट्पदा विराडष्टि छन्द, ९ का परानुष्टुप् छन्द, १२, १३, १५ का पञ्चपदा शक्करी छन्द (१२,१३ मन्त्र का त्र्यवसाना पञ्चपदा शक्करी छन्द भी है), १४ का महाबृहती छन्द, १६, २१ का एकावसाना साम्नी त्रिष्टुप् छन्द, १८ का त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्करी छन्द,१९, २० का पुरो बृहती छन्द (२० वें मन्त्र का विराट् छन्द भी है), २२ का त्र्यवसाना षट्पदा विराडतिजगती छन्द, २३ का पञ्चपदा विराडति जगती छन्द, २४ का पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा जगती छन्द, २५ का त्र्यवसाना सप्तपदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा शक्करी छन्द, २६, २७, २८, ३३, ३५, ३९, ४०, ४१, ५०, ५३, ५४, ५६, ५९, ६३ का अनुष्टुप् छन्द, (५३ वें मन्त्र का पुरोबार्हता छन्द भी है), ३० का विराड् गायत्री छन्द, ३२ का पुरस्ताज्ज्योति छन्द, ३४ का त्र्यवसाना षट्पदा त्रिष्टुब्बृहती गर्भातिजगती छन्द, ३६ का विपरीत

पादलक्ष्मा पंक्तिछन्द, ३७ का त्र्यवसाना पञ्चपदा शकरी छन्द, ४१ का षट्पदा ककुम्मती शकरी छन्द, ४२ का स्वराडनुष्टुप् छन्द, ४३ का विराडास्तारपङ्क्ति छन्द, ४४, ४५, ४९ का जगती छन्द, ४६ का षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा पराशकरी छन्द, ४७ का षट्पदा उष्णिगनुष्टुब्गर्भा परातिशक्वरी छन्द, ४८ का पुरोऽनुष्टुप् छन्द, ५१ का त्र्यवसाना षट्पदा अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मती शकरी छन्द, ५२ का पञ्चपदा अनुष्टुब्गर्भा परातिजगती छन्द, ५७ का पुरोतिजागता जगती छन्द, ५८ का पुरस्ताद् बृहती छन्द, ६१ का पुरो बार्हताछन्द और ६२ का परा विराट् छन्द है।

(ख) मन्त्र ३, २९, ३१, ५५ का त्रिष्टुप् छन्द है। १७ का विराण्महा बृहती छन्द है और ६० का पुरो बार्हता छन्द है।

सायणाचार्य—लिखित पृथिवीसूक्त का विनियोग

पृथिवीसूक्ते पृथिव्याः प्रभूतं निसर्गवर्णनम्। कतिचित् पौराणिकीः कथाश्चानुलक्ष्य वर्णनम्। बहुवारं च ऋषिः पृथिवीं वरान् प्रार्थयते॥

सम्प्रदायानुसारेण तु सूक्तं बहुविधं विनियुज्यते। तद्यथा 'सत्यं बृहत्" इत्यनुवाको वास्तोष्पत्यगणे पठितः। अस्य गणस्य विनियोगः "इहैव ध्रुवाम्" [३. १२] इति सूक्ते द्रष्टव्यः।

तथा आग्रहायणीकर्मणि रात्रौ अभ्यातानान्तं कृत्वा त्रयश्चरवः श्रपयितव्याः। ततः अनेनानुवाकेन अग्नेः पश्चाद् गर्ते दर्भान् आस्तीर्य एकं चरुं सकृत् सर्वहुतं जुहोति। द्वितीयं चरुं अनेनानुवाकेन संपात्याभिमन्त्र्य अश्नाति। तृतीयं चरुं "सत्यं बृहत्" इति आद्याभिः सप्तभिर्ऋग्भिः "भूमे मातः" [६३] इत्यष्टम्या ऋचा च त्रिर्जुहोति। अष्टानाम् ऋचाम् आवृत्त्या होमत्रयं संपादनीयम् इत्यर्थः। अग्नेः पश्चाद् दर्भेषु कशिपुतृणमयं प्रस्तरणमास्तीर्य "विमृग्वरीम्" [२९] इत्यनयोपविशति। "यास्ते शिवाः" [९. २. २५] इति संविशति। "यच्छयानः" [३४] इति पर्यावर्तते। "सत्यं बृहत्" इति नवभिः"शान्तिवा" [५९] इत्यृचा "उदायुषा" [३. ३१. १०. ११] इति द्वाभ्यां च

प्रातरुत्तिष्ठते । "उद्वयम्" [७. ५५. ७.] इति गच्छति । "उदीराणाः" [२८] इत्यृचा प्राङ् वोदङ् वा बाह्यतो गच्छति । "यावत् ते" [३३] इत्यृचा भुवम् ईक्षते ॥ इत्याग्रहायणीकर्म ॥

तथा पुष्टिकामः उन्नतं स्थलमारुह्य "यावत् ते" [३३] इत्यृचा ईक्षते ॥

तथा अनेनानुवाकेन उदपात्रं संपात्य पुरस्ताद् अग्नेः सीरं युक्तं संप्रोक्षति ॥

तथा अनेनानुवाकेन कृषिकर्म भवति ॥ तच्च "सीरा युञ्जन्ति" इति [३. १७] सूक्ते विस्तरेणोक्तं द्रष्टव्यम् ॥

तथा पुत्रधनादिसर्वफलप्राप्त्यर्थं "यस्यां सदोहविर्धाने [३८–४०] इति तिसृभिराज्यं जुहोति ।

तथा व्रीहियवाद्यन्नकामः "यस्यामन्नम्" [४२] इत्यृचा पृथिवीम् उपतिष्ठते ॥

तथा मणिहिरण्यादिकामः "निधिं बिभ्रती" [४४—४५] इति द्वाभ्यां पृथिवीम् उपतिष्ठते ॥

तथा प्राप्यापि मणिं हिरण्यं वा आभ्यामेवोपतिष्ठते ॥

तथा पुष्टिकामः वृष्टिकाले "यस्यां कृष्णम्" [५२] इत्यृचा नवोदकम् अभिमन्त्र्य आचमनं स्नानं च करोति ॥

तदुक्तं कौशिकेन–"सत्यं बृहद्" इत्याग्रहायण्याम् । पश्चात् अग्नेर्दर्भेषु खदायां सर्वहुतम् । द्वितीयं संपातवन्तम् अश्नाति । तृतीयस्यादितः सप्तभिर्भूमे मातरिति त्रिर्जुहोति । पश्चाद् अग्नेर्दर्भेषु कशिप्वास्तीर्य विमृग्वरीम् इत्युपविशति । यास्ते शिवा इति संविशति । यच्छयान इति पर्यावर्तते । नवभिः शन्तिवेति दशम्योदायुषेत्युपोत्तिष्ठति । उद्वयमित्युत्क्रामति । उदीराणा इति त्रीणि पदानि प्राङ् वोदङ् वा बाह्येनोपनिष्क्रम्य यावत् त इति वीक्षते । उन्नताच्च । पुरस्ताद् अग्नेः सीरं युक्तम् उदपात्रेण संपातवतावसिञ्चति । आयोजनानाम् अप्ययः । यस्यां सदोहविर्धाने इति जुहोति वरो म आगमिष्यतीति । यस्यामन्नम् इत्युपतिष्ठते । निधिं बिभ्रतीति मणिं हिरण्यकामः । एवं

विद्वान्। यस्यां कृष्णम् इति वार्यकृतस्याचामति। शिरस्यानयते इति (कौ० ३. ७)॥ वरो वरणीयोर्थो मम भवेद् इत्यर्थः॥

तथा ग्रामपत्तनादिरक्षार्थम् अनेनानुवाकेन चतुरः पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् कृत्वा ग्रामादिकोणेषु निखनति॥

तथा ग्रामपत्तनादिरक्षार्थम् अनेनानुवाकेन एकैकस्य पुरोडाशस्य पाषाणम् उपरि कृत्वा उभयान् संपातवतः कृत्वा ग्रामादिकोणेषु निखनति। सर्वत्र प्रतिद्रव्यं सूक्तावृत्तिः॥

तथा अग्नेरायतनस्य असंतापयुक्ते देशे शयानः एतम् अनुवाकं जपति। सर्वत्र कर्मणां विकल्पः॥

तदुक्तं कौशिकसूत्रे–'भौमस्य दृतिकर्माणि। पुरोडाशान् अश्मोत्तरान् अन्तः स्रक्तिषु निदधाति। उभयान्त्संपातवतः। सभाभागधानेषु च। असन्तापे ज्योतिरायतनस्यैकतोन्यं शयानो भौमं जपति" इति। [कौ० ५. २]॥ तथा भूमिचलने अस्यानुवाकस्य होमे विनियोगः। "अथ यत्रैतद् भूमिचलो भवति" इत्युपक्रम्योक्तं कौशिकेन। "सत्यं बृहद् इत्येतेनानुवाकेन जुहुयात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति [कौ० १३. ६]॥

तथा सोमयज्ञे दीक्षितनियमेषु मूत्रपुरीषशुद्धयर्थं लोष्टादाने अस्य विनियोगः। तदुक्तं वैताने–"सत्यं बृहद् इति लोष्टम् आदाय" इति [वै० ३. २]॥

तथा "पार्थिवीं भूमिकामस्य" इति [न० क० १७] विहितायां पार्थिव्यां महाशान्तौ अस्यानुवाकस्य विनियोगः। तदुक्तं नक्षत्रकल्पे– "सत्यं बृहद् इत्यनुवाकः पार्थिव्याम्" इति [न० क० १८]॥

सूक्तों का संक्षिप्त परिचय और सार

(१)

वरुण-सूक्त

(ऋ० १ मं०, २५ सू०)

वरुण-सूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का पचीसवाँ सूक्त है। इसमें

शुनःशेप के द्वारा वरुण देवता की स्तुति की गयी है, अतः इसे 'वरुणसूक्त' कहा जाता है। शुनःशेप अजीगर्त नामक एक दरिद्र ब्राह्मण का मध्यम पुत्र था। अजीगर्त बड़े अकर्मण्य एवं अर्थलोलुप थे। यही कारण था कि राजकुमार रोहित ने जब उनसे सौ गौओं के बदले में उनके किसी एक पुत्र को माँगा, तो उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के शुनःशेप को उसके हवाले कर दिया। रोहित राजा हरिश्चन्द्र का लड़का था और उसका जन्म वरुण की मनौती मानने पर हुआ था। हरिश्चन्द्र ने यह मनौती मानी थी कि यदि वरुण-देवता उन्हें कोई पुत्र दे दें तो वे उस पुत्र को उन्हें ही भेंट कर देंगे। किन्तु रोहित के हो जाने के बाद हरिश्चन्द्र को मोह हो आया और वे अपनी मनौती की अवधि आगे-आगे बढ़ाते गये। नाराज होकर वरुण-देवता ने उन्हें 'जलोदर' का रोगी बना डाला। रोहित भी अपने ऊपर आयी बला को अच्छा न समझकर जंगल में खिसक गया। अब शुनःशेप को खरीद कर वह अपनी और अपने पिता की जान बचा सकता था। वरुण देवता ने भी शुनःशेप के प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया। और इस तरह उस पुरुष—पशु का आलम्भन होने वाला था। धन-लोभ से उसके पिता ने ही उसे यज्ञस्तूप में बांधा और उसके आलम्भन के लिए तलवार भी उसके पिता ने ही उठाई। शुनःशेप भय से काँप उठा और उसने देवताओं की शरण ली। प्रकृत वरुणसूक्त में उसने अपने पाश-विमोचन के लिए वरुण की प्रार्थना की है।

पहले तो उसने अपने कर्म-वैगुण्य को दूर करने की अभ्यर्थना की है और अपने अपराधों के लिए क्षमा याचना की है। उसने अपनी प्राथना को सकाम बतलाया है और अपने जीवन के लिए बड़ी व्यग्रता प्रकट की है। उसने यह भी विश्वास प्रकट किया है कि वरुण-देवता यजमान के कामों की पूर्ति में कभी अनवधानता नहीं करते, अतः वे मेरे लिए भी न करेंगे। उसने वरुण को सभी तरह की गतियों का ज्ञाता ठहराया है। अन्तरिक्ष का गति-वैचित्र्य जल

का गति-वैचित्र्य, अधिकमास सहित काल की गति, वायु का गति-पथ और ऊर्ध्वलोक वासी कोई देवता उनसे अज्ञात नहीं है। वरुण के भक्तजन उनकी कृपा से उनके तीनों काल के कर्मों को और स्वरूप को जान सकते हैं। उनका दीप्तिमान् स्वरूपयद्यपि कवच से ढका रहता है, फिर भी उनकी दीप्ति कवच से आच्छादित नहीं होती। शुनःशेप की घबड़ायी हुई मति सब तरह से लौटकर वरुण में ही केन्द्रित होती है। उसे विश्वास है कि वरुण से उसका सम्भाषण हो सकता है, उनने उसकी प्रार्थनाएँ सुनी हैं और इसी भरोसे उसने फिर उस पाश से छूटने की आकुलता व्यक्त की है। वरुण की उस आदर्श निष्ठा के अनुकरण से संसार का बड़ा कल्याण हो सकता है। प्रजा को अपनी असावधानी समझकर उसे दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए एवं राजा को पृथिवी, आकाश, जल और वायु की प्रत्येक छोटी-बड़ी हरकतों का ख़याल रखना चाहिए।

(२)

उषः-सूक्त

(ऋ० १ मं०, ११३ सू०)

उषःसूक्त ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का ११३ वाँ सूक्त है। इस सूक्त में उषा-काल का बड़ा आकर्षक एवं आलङ्कारिक वर्णन हुआ है। उषा को एक श्रेष्ठ ज्योति स्थिर किया गया है। सूर्य-रूप में जगत् के लिए उषा की देन एक विस्मापक वस्तु है। यद्यपि दोनों बिलकुल विरुद्ध स्वभाववाली हैं, फिर भी वे एकचित्ता हैं—एक दूसरे की बाधिका नहीं है। कालरूप में दोनों ही नित्य हैं। दोनों ही बारी-बारी से तारापथ में आया-जाया करती हैं। रात्रि के संचरण-काल में दुनिया सब तरह से निष्क्रिय हो जाती है, उषा आकर उसे फिर सक्रिय बनाती है—पुनरुज्जीवित सी कर देती है। व्योमबाला उस उषा का यौवन नित्य नूतन है, शुभ्र ज्योति परिधान

से उसकी शोभा निखर उठती है एवं समग्र वैभव उसके चरणों में लोटा करते हैं। तीनों काल में वह एक रूप, एक रस में रहती है। वह राक्षसादि को निवारिका, ऋत की पालयित्री और शरीर का प्रेरक जीवात्मा है।

(३)

विष्णु-सूक्त (प्रथम)

(ऋ० १ मं०, १५६ सू०)

[ऋग्वेद के दो विष्णुसूक्त परीक्षा में निर्धारित हैं। पहला प्रथम मण्डल का १५६ वाँ सूक्त है और दूसरा सप्तम मण्डल का १०० वाँ सूक्त है। पहले सूक्त के द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि हैं और दूसरे सूक्त के द्रष्टा वसिष्ठ ऋषि हैं। दीर्घतमाने तीन विष्णुसूक्तों का दर्शन किया है, जिनमें यह तीसरा सूक्त है।]

विष्णु के विविध-रूप कर्म हैं। अद्वितीय परमेश्वर रूप में उन्हें महाविष्णु कहा जाता है। यज्ञ और जलोत्पादक सूर्य भी उन्हीं का रूप है। वे पुरातन, विविध जगत्स्रष्टा, नित्यनूतन एवं चिरसुन्दर हैं। दुनिया को मस्त बनाने वाली लक्ष्मी उनकी भार्या हैं। उनके नाम का एवं लीला का कीर्तन उनके उस परम पद का प्रापक है, जो जीवों का चरम लक्ष्य है। जो यजमान उनकी ओर बढ़ता है, उसकी ओर वे भी बढ़ते हैं और उसे फल देकर प्रसन्न करते हैं।

(४)

विष्णु-सूक्त (द्वितीय)

(ऋ० ७ मं०, १००सू०)

भगवान् विष्णु नरके हितैषी हैं। उनके यशों का गान, उनका नमस्कार एवं उनके लिए हव्य का प्रदान सर्वविध श्रेयस का प्रापक

है। उनकी दया से तो विश्वजनीन उस अमल बुद्धि की भी प्राप्ति होती है, जो दुनिया को सबसे दुर्लभ एवं सर्वथा उन्नायक वस्तु है। उनके वामनका अवतार उनकी भक्तवत्सलता का एक अपूर्व सुन्दर निदर्शन है। उन्होंने भक्तों के लिए ऐहिक एवं आमुष्मिक लाभ सुस्थिर कर रखे हैं एवं उनके भक्तोंके लिए एक बड़ा व्यापक क्षेत्र तैयार कर रखा है। वे इस दुनिया से दूर के वासी हैं। किन्तु भक्तजनों के लिए कहीं भी किसी रूपमें तत्क्षण प्रकट हो सकते हैं। वसिष्ठजी की सहायता के लिए उन्हें 'शिपिविष्ट' के रूप में आना पड़ा था।

(५)

पृथ्वी-सूक्त

(अथ० १२ कांड, १ सूक्त)

अथर्ववेदके बारहवें काण्ड के १ सूक्तका नाम पृथिवी सूक्त (भूमि-सूक्त) है। इसमें प्रायः पृथिवी के प्राकृतिक दृश्यका वर्णन है। पृथिवी सूक्त मातृभूमि की प्रगाढ़ भक्ति का परिचायक है। इस सूक्त में पृथिवी के आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों रूपों की स्तुति करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि यह सम्पूर्ण पृथिवी मातृस्वरूपा है। यह मातृस्वरूपा पृथिवी अपने सच्चे भक्तों के लिये उत्तमोत्तम वर प्रदान करती है। अतएव ऋषिने पृथिवी माता की महनीय महत्ता को दृष्टिमें रखकर ही मातृस्वरूपा पृथिवी से अनेक उत्तम वर के लिये प्रार्थना की है।

महर्षि सायण ने पृथिवीसूक्त के मन्त्रों का अनेक लौकिक लाभों के लिए विनियोग बतलाया है। यथा—

आग्रहायणीकर्म में, पुष्टिकर्म में, कृषिकर्म में तथा पुत्र, धन, आदि सर्व वस्तु की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले कर्म में एवं अन्न, सुवर्ण, मणि, पृथिवी आदि की प्राप्ति में, ग्राम-नगर आदि की

रक्षा में, भूकम्प में, प्रायश्चित्त में, साम यज्ञ में तथा पार्थिव महाशान्ति आदि के कर्म में भी पृथिवीसूक्त के मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त बहुत ही उत्तम और उपयोगी है। इसका अध्ययन प्रत्येक वैदिक धर्मावलम्बी को आवश्यक है।

६

शान्त्यध्याय

(शु० य० अ० ३६)

शुक्ल यजुर्वेद के ३६ वें अध्याय का नाम 'शान्त्यध्याय है। इस अध्याय में २४ मन्त्र हैं और उन सबका सर्वविध-शान्त्यर्थ विनियोग है। उनमें से कुछ चुने हुए मन्त्र और उनका अर्थ दिया जाता है, जिनसे पूरे अध्याय का विषय-निर्देश स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

इन्द्रो विश्वस्य राजति। शं नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

(शु० य० ३६।८)

जो परमेश्वर समस्त संसार के स्वामी हैं अथवा जो सूर्य समस्त संसार के प्रकाशक हैं वे हमारे द्विपद अर्थात् पुत्रादिकों के लिए तथा चतुष्पद अर्थात् गौ आदि पशुओं के लिए कल्याणकारी हों॥

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा। शं न ऽइन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥ (शु० य० ३६।९)

मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और विष्णु—ये सभी देवगण हमारे लिए कल्याणकारी हों॥

शं नो वातः पवतां शं नस्तपतु सूर्यः। शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु (शु० य० ३६।१०)

हमारे लिए वायु, सूर्य और वरुण कल्याणकारी हों अर्थात् वायु सुखस्वरूप हो, सूर्य सुखप्रद किरणों का प्रसार करें और वरुण सुवृष्टि प्रदान करें॥

अहानि शं भवन्तु नः शंठ० रात्रीः प्रति धीयताम् । शं न ऽइन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न ऽइन्द्रावरुणा रातहव्या । शं न ऽइन्द्रा-पूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥ (शु० य० ३६। ११)

हमारे लिए दिन और रात्रि सुखस्वरूप हों। तथा इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुण, इन्द्रपूषा और इन्द्रसोम—ये सभी देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों एवं हमारे रोग तथा भय को दूर कर सुखकारी हों॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षठ्ठं० शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिः सर्वठ्ठं० शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (शु० य० ३६।१७)

द्युलोक (स्वर्गलोक) रूपा शांति, अंतरिक्ष (आकाश) रूपा शांति, पृथिवी रूपा शांति, जलरूपा शांति, औषधरूपा शांति, वनस्पतिरूपा शांति, विश्वेदेवरूपा शांति ब्रह्म (वेद) रूपा शांति, समस्त संसाररूपा शांति और जो स्वभावतः शांति है, वह मुझे प्राप्त हो ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतठ्ठं० शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ (शु० य० ३६।२४)

देवताओं के हितकारी अथवा प्रिय परमेश्वर का जो चक्षुभूत सूर्य है उस का तेज पूर्वदिशा में उदित होता है, वह हमें जीवनपर्यन्त अव्याहत चक्षु-सम्पन्न रखें, जिससे हम उन्हें भलीभाँति देख सकें। हम सौ वर्षपर्यन्त जीवें। हम सौ वर्षपर्यन्त सुनें। हम सौ वर्ष-पर्यन्त बोलें। हम सौ वर्षपर्यन्त दैन्य होकर न रहें अर्थात् हमें किसी से कुछ माँगना न पड़े। हम सौ वर्ष से भी अधिक जीवित रहें॥

इस प्रकार वैदिक-सूक्त-संग्रह में संक्षेप से सूक्त-शब्दार्थ सूक्तों

२

के भेद, सूक्तों के ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, अथर्ववेदीय पृथिवी-सूक्त के मन्त्रों के छन्दों का उल्लेख, सायणकृत पृथिवीसूक्त के विनियोग का उल्लेख, सूक्तों का परिचय और उनका सार आदि का वर्णन कर, अब हम वेद का भी परिचय लिखते हैं। यद्यपि यहाँ वेद के संबंध में कुछ लिखना विशेष प्रासङ्गिक नहीं है, तथापि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इस वचन को स्मरण करते हुए सर्वसाधारण लोगों को वेदका परिचय कराना आवश्यक है। जो लोग संक्षिप्तरूप से वेद का परिचय जानने के विशेष इच्छुक हैं, उन्हें हमारी लिखी हुई वेद-परिचयात्मिका भूमिका के अध्ययन से विशेष लाभ होगा, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है।

वेद-शब्दार्थ

'वेद' शब्द ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय करने से बनता है। इस 'वेद' शब्द को भगवान् पाणिनि मुनि रूढ और योगरूढ दो प्रकार का मानते हैं। पाणिनि मुनि ने उञ्छादि गण (पाणि० ६।१।१६०) में और वृषादि गण (पाणि० ६।१।२०१) में इसका पाठ भी किया है। उञ्छादि गण में करण-प्रत्ययान्त 'वेद' शब्द का पाठ अन्तोदात्तकी सिद्धि के लिए है और वृषादि गण में 'वेद' शब्द का पाठ आद्युदात्त की सिद्धि के लिए किया गया है। करण-प्रत्ययान्त 'वेद' शब्द कहने से अन्य-प्रत्ययान्त यावत् 'वेद' शब्द अर्थात् आद्युदात्त सिद्ध हो जाता है, केवल एक रूढ 'वेद' शब्द रह जाता है, जो कि वृषादि गण में पढ़े बिना आद्युदात्त सिद्ध नहीं हो सकता। अतः सिद्ध हुआ कि 'वेद' शब्द रूढ और योगरूढ दो प्रकार का है। उसमें अन्तोदात्त 'वेद' शब्द कुशमुष्टि वाचक है और ग्रन्थराशि वाचक 'वेद' शब्द आद्युदात्त है। इसका अर्थ सायणाचार्य ने ऐतरेय और कृष्णयजुर्वेद की भाष्यभूमिका में इस प्रकार किया है—

वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयोपाया अनेन स वेदः ।
'जिससे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ जाने जाँय उसको वेद कहते हैं।'
एक श्लोक भी वहाँ है –

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

'प्रत्यक्ष और अनुमान से जो उपाय न जाने जाँय उसे वेद बताता है।'

चार वेद

मन्त्रब्राह्मणरूपोऽयं वेदस्तत्र चतुर्विधः ।
ऋग्यजुःसामभिर्भेदैरथर्वाभिदया तथा ॥ १ ॥
छन्दोबद्धाः ऋचश्छन्दोहीनं गद्यात्मकं यजुः ।
ऋक्षु गीतं सामगानमथर्वाङ्गिरसो ऋचः ॥ २ ॥

(वेदविज्ञान-मीमांसा, पृ० ७६)

'पुरुषविशेषकृतिशून्य मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेद के चार विभाग हैं— ऋक्, यजु, साम और अथर्व। छन्दोबद्ध मन्त्रोंको ऋग्वेद, छन्दोहीन गद्यात्मक तथा अर्थवश विभक्त होनेवाले मन्त्रों को यजुर्वेद, ऋचाओं में गाये जानेवाले गान-विशेष को सामवेद और छन्दोबद्ध ऋक्-विशेष को अथर्ववेद कहते हैं।'

चार उपवेद

चारों वेदों के चार उपवेद हैं–ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद और अथर्ववेद का* अर्थ-शास्त्र है।

---

* शुक्राचार्य के मत से अथर्ववेद का उपवेद तन्त्ररूप अर्थात् तन्त्रशास्त्र है–
'अथर्वणां चोपवेदस्तन्त्ररूपः स एव हि ।'

आयुर्वेद—शारीरिक समस्त व्याधियों के निवर्त्तन द्वारा उत्तम स्वास्थ्यकर औषधियों तथा उपचारों के निर्देशन में आयुर्वेद उपयुक्त होता है।

धनुर्वेद—जीवों के रक्षार्थ, दुष्टों के दमनार्थ धर्मपूर्वक बाणविद्या के उपदेश में धनुर्वेद उपयुक्त होता है।

गान्धर्ववेद—यज्ञ-यागादि अनुष्ठानों में देवताओं के प्रसादार्थ गायनरूप में षड्ज़ादि सप्तस्वरों एवं ताल, लय के रूप में गान्धर्ववेद उपयुक्त होता है।

अर्थशास्त्र—न्यायपूर्वक धन का उपार्जन करना और उपार्जित धन की रक्षा करते हुए उसका उचित उपयोग करना एवं अर्थ-सम्बन्धी एवं विवेक के लिए अर्थशास्त्र उपयुक्त होता है।

वेदों के अङ्ग

वेद के छः अङ्ग होते हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्यौतिष।

शिक्षा—वैदिक वर्णों के यथोचित स्वर, मात्रा, वर्ण इत्यादि बोधन के लिये शिक्षा उपयुक्त होती है।

कल्प—मंत्र-विनियोग द्वारा यज्ञादि अनुष्ठान के उपदेशार्थ कल्प उपयुक्त होता है।

व्याकरण—प्रकृति, प्रत्यय, संहिता (संधि) इत्यादि के द्वारा पद के उचित स्वरूप तथा अर्थ के निश्चय कराने में व्याकरण उपयुक्त होता है।

निरुक्त—पदविभाग, मन्त्रार्थ, देवता इत्यादि निरूपण द्वारा एक-एक पद के सम्भावित समस्त अर्थों के स्पष्टीकरण से वेदार्थ स्फुटीकरण में निरुक्त उपयुक्त होता है।

छन्द—लौकिक, वैदिक शब्दों को पाद, यति, विरामादि व्यवस्थाओं द्वारा छंदो-विशेष के बोधनार्थ छंद उपयुक्त होता है।

ज्यौतिप—ग्रह, नक्षत्र, मुहूर्त एवं शुभाशुभ परिज्ञान के लिये ज्यौतिष शास्त्र उपयुक्त होता है।

वेदों के उपाङ्ग

वेद के चार उपाङ्ग हैं—*पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र।

पुराण—वैदिक पद्धति के अनुसार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-रूप चतुर्विध पुरुषार्थ सिध्यर्थ आर्ष कथाओं के द्वारा धर्म के वास्तविक रहस्य को प्रकाशित करने के लिए पुराण उपयुक्त होता है।

न्याय—संसार के द्रव्य, गुण, कर्म आदि समस्त पदार्थों के अनुगतरूप से प्रकाशन करने में न्यायशास्त्र उपयुक्त होता ह।

मीमांसा—वेदार्थ निश्चय करने में मीमांसा शास्त्र उपयुक्त होता है।

धर्मशास्त्र—स्मृतियों द्वारा वेदानुकूल सिद्धान्तों के प्रचारार्थ लोक-सेवा में धर्मशास्त्र उपयुक्त होता है।

वेद-चतुष्टय के अध्यायादि और उनकी मन्त्रसंख्या

ऋग्वेद में—६४ अध्याय, ८ अष्टक, १० मण्डल, २००६ वर्ग, १००० सूक्त, ८५ अनुवाक् और १०४४० मन्त्र हैं।

शुक्लयजुर्वेद में—४० अध्याय और १९७५ मंत्र हैं।

कृष्णयजुर्वेद में—७ काण्ड, ४४ प्रपाठक, ५१६०० अनुवाक और †१८००० यजुर्मन्त्र हैं।

सामवेद में दो भाग हैं—छन्दःसंहिता और उत्तर संहिता। उनके पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक ये दो नाम हैं। पूर्वार्चिक में ६ और उत्तरार्चिक में ३ प्रपाठक हैं। १८२४ मन्त्र हैं।

अथर्ववेद में २० काण्ड, ७५९ सूक्त और ५९७७ मन्त्र हैं।

---

* पुराण के दो भेद कहे गए हैं—पुराण और उपपुराण। पुराण और उपपुराण ये दोनों ही अठारह प्रकार के होते हैं।

† 'अष्टादश यजुःसहस्राण्यधीत्य शाखापारो भवति' (चरणव्यूह)

प्रत्येक वेद की शाखाओं की संख्या

ऋग्वेदादि चारों वेदों की शाखाएँ भिन्न-भिन्न हैं। उनकी शाखाओं का निर्णय महाभाष्यकार इस प्रकार करते हैं—

"एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेदः।" (महाभाष्य, पस्पशाह्निक)।

षड्गुरुशिष्य सर्वानुक्रमणी की वृत्ति की भूमिका में लिखते हैं—

एकविंशत्यध्वयुक्तमृग्वेदमृषयो विदुः।
सहस्राध्वा सामवेदो यजुरेकशताध्वकम्॥
नवाध्वाऽथर्वणोऽन्ये तु प्राहुः पञ्चदशाध्वकम्॥

कूर्मपुराण (४९। ५०-५२) में भी लिखा है—

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदं कृतवान् पुरा।
शाखानां तु शतेनाथ यजुर्वेदमथाकरोत्॥
सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः।
आथर्वणमथो वेदं विभेद नवकेन तु॥

उपर्युक्त अनेक प्रमाणों के अनुसार ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद (शुक्ल और कृष्ण) की १०१, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं। वैदिक शाखाओं की संख्या के विषय में मतभेद भी पाया जाता है। शौनक-कथित 'चरणव्यूह' (परिशिष्ट) में ऋग्वेद की ५ शाखाओं का, यजुर्वेदकी ८६ शाखाओं का, सामवेद की १००० शाखाओं का और अथर्ववेद की ९ शाखाओं का उल्लेख मिलता है।

चारों वेदों की समस्त शाखाएँ ११३१ हैं, किन्तु आज वर्त्तमान समय में उन समस्त शाखाओंमें केवल १२ शाखाएँ उपलब्ध हैं, बाकी शाखाएँ किसी दैविक प्रकोप से अथवा हम भारतीयों की घृणित उपेक्षा से लुप्त हो गई हैं। उपलब्ध १२ शाखाओं की भी यह व्यवस्था है कि आज बहुधा लोग उनके नाम तक भी नहीं जानते और न उनके पास

ये शाखाएँ ही प्राप्त हैं। आज इन शाखाओं के कतिपय ज्ञाता दक्षिण प्रान्त और काशी में विद्यमान हैं, जिनके यहाँ उपलब्ध शाखाओं का संग्रह सुरक्षित है।

शाखा शब्द का अर्थ

'शाखा' शब्द का अर्थ अवयव अथवा हिस्सा नहीं है, जैसे रामायण के छः काण्ड और महाभारत के अठारह पर्व—ये काण्ड और पर्व उनके अवयव हैं। एक-एक काण्ड या एक-एक पर्व स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह एक से एक सापेक्ष और अनुबद्ध है। परन्तु वेदों की शाखाएँ परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध नहीं हैं। अठारह पर्वों के या सात काण्डों के समुदाय का नाम 'महाभारत' और 'रामायण' है, परन्तु इक्कीस शाखाओं के समुदाय का नाम 'ऋग्वेद' नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक शाखा स्वतन्त्ररूप से ऋग्वेद है, क्योंकि एक शाखा दूसरी शाखा की अपेक्षा नहीं रखती। इसीलिए किसी भी वेद की एक शाखा का अध्ययन करने से ही समग्र वेद का अध्ययन माना गया है। मीमांसा शास्त्र के प्रणेता महर्षि जैमिनि ने 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वैदिक आज्ञा का अर्थ करते हुए लिखा है कि अपनी परम्परागत किसी भी एक शाखा का अध्ययन करना चाहिये। यदि इक्कीस शाखाओं को मिलाकर एक ऋग्वेद माना जाय, एक सौ शाखाओं के समुदाय को यजुर्वेद माना जाय, एक हजार शाखाओं के समुदाय को सामवेद और नौ शाखाओं के समुदाय को अथर्ववेद माना जाय, तो एक मनुष्य अपने एक जीवन में एक वेद का सम्पूर्ण अध्ययन नहीं कर सकेगा। इस प्रकार तो भगवान् मनु की भी यह आज्ञा असङ्गत हो जाती है—

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥

'द्विजातिमात्र ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तीनों वेदों, दो वेदों या एक ही वेद को पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें।'

ब्रह्मचर्य का काल आठ, बारह चौबीस या अड़तालीस वर्ष कहा गया है। ऐसी स्थिति में सौ वर्ष में भी समस्त शाखाओं के सहित वेदों का अध्ययन कठिन ही नहीं, प्रत्युत सर्वथा असम्भव है। अतः एक ही शाखा का अर्थ एक वेद है। जिसकी जो शाखा हो, वही उसका वेद है, ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है।

यह शाखाभेद कर्ता के भेद से नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार एक ही राम-कथा वाल्मीकीय, आनन्द, अद्भुत और अध्यात्म आदि अनेक रामायणों में भिन्न-भिन्न कर्त्ताओं द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णित किये जाने पर भिन्न है, उसी प्रकार वेद की भी भिन्न-भिन्न शाखाएँ भिन्न-भिन्न महर्षि द्वारा सङ्कलित किये जाने के कारण पृथक् हैं—ऐसा भी कतिपय आधुनिक लोगों का सिद्धांत है। परन्तु यह उनका भ्रममात्र है। ऋषियों की शक्ति मंत्रों को आगे-पीछे रखने में भले ही हो, लेकिन पदों या वाक्यों को इधर-उधर करने की शक्ति कदापि नहीं हैं, क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं। उनमें पुरुष-कर्तृत्व की शङ्का स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। अतएव वेदों के सदृश उनकी शाखाओं का भेद भी अनादिसिद्ध है। इस विषय में लेशमात्र भी सन्देह नहीं करना चाहिए।

ऋग्वेद की शाखाएँ

पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में ऋग्वेद की २१ शाखाएँ कही गई हैं, किन्तु वर्तमान समय में उनमें केवल दो ही शाखा उपलब्ध हैं, जिनमें एक का नाम 'वाष्कला' और दूसरी का नाम 'शाकला' है। इन दोनों शाखाओं के अतिरिक्त अन्य १९ शाखाएँ इस समय लुप्त हो गई हैं। उपलब्ध दोनों शाखाओं में परस्पर साधारण ही भेद प्रतीत होता है। 'शाकलसंहिता' में मण्डल और सूक्त इत्यादि के द्वारा ऋचाओं का विभाग किया है और 'वाष्कलसंहिता' में अध्याय और वर्ग इत्यादि से ऋचाओं का विभाग किया गया है। परन्तु आजकल

इन दोनों के विशेष भेदों पर ध्यान न देकर अध्याय तथा मण्डल आदि की संख्या एक साथ रक्खी गयी है।

यजुर्वेद की शाखाएँ

शुक्ल और कृष्ण भेद से यजुर्वेद दो भागों में विभक्त है। दोनों प्रकार के यजुर्वेदों की प्राचीन आचार्यों ने १०१ शाखाएँ कहीं हैं। उनमें शुक्ल यजुर्वेद की २ और कृष्ण यजुर्वेद की ३ शाखाएँ उपलब्ध हैं। अर्थात् वर्त्तमान समय में यजुर्वेद की केवल ५ शाखाएँ उपलब्ध हैं बाकी समस्त शाखाएँ लुप्त हो गई हैं। शुक्ल यजुर्वेद के उपलब्ध शाखाद्वय में एक का नाम 'काण्वा' और दूसरी का नाम 'माध्यन्दिनी' है।

कृष्ण यजुर्वेद के उपलब्ध शाखात्रय में एक का नाम 'कठसंहिता,' दूसरी का नाम 'मैत्रायणी संहिता' और तीसरी का नाम 'तैत्तिरीय संहिता' है।

सामवेद की शाखाएँ

सामवेद की १००० शाखाएँ कही गई हैं, किन्तु इस समय उनमें केवल तीन ही शाखा उपलब्ध हैं, जिनके नाम यह हैं—'कौथुमी', 'जैमिनीया' और 'राणायनीया'। वर्त्तमान समय में उक्त तीनों शाखाएँ दक्षिण प्रान्त के द्रविड़ देशों में उपलब्ध हैं। उनमें सर्वाधिक प्रचार कौथुमी शाखा का, उससे न्यून प्रचार राणायनीय शाखा का और उससे भी स्वल्प प्रचार जैमिनीय शाखा का है। यद्यपि अद्यावधि केवल 'कौथुमी शाखा' ही छपी है, तथापि द्रविड़ देश में आज भी तीनों शाखाओं के ज्ञाता वर्त्तमान हैं।

अथर्ववेद की शाखाएँ

अथर्ववेद की ९ या १५ शाखाएँ कही गई हैं। किन्तु इस समय उनमें केवल दो ही शाखा उपलब्ध हैं—'पिप्पलाद' और 'शौनक'। इन्हीं दोनों शाखाओं की दो संहिताएँ भी हैं—'पिप्पलाद संहिता' और 'शौनक संहिता'। वर्त्तमान समय में 'शौनक संहिता' ही अधिक प्रचलित है।

यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण दो भेद होने का कारण

पूर्वकाल में ब्रह्मपरम्परा से प्राप्त वेद को भगवान् वेदव्यास ने मन्दमति शिष्यों पर कृपाकर ऋक्, यजु, साम और अथर्व इन नामों से चार विभाग कर पैल, वैशम्पायन, जैमिनि तथा सुमन्तु नामक महर्षियों को क्रम से उपदेश किया। पश्चात् उन लोगों ने अपनी शिष्य-परम्परा में उपदेश किया। इस प्रकार शनैः-शनैः वेद की हजारों शाखाएँ हुईं। व्यासजी के शिष्य वैशम्पायन मुनि ने अपने याज्ञवल्क्य इत्यादि शिष्यों को यजुर्वेद पढ़ाया। अध्ययन-काल में किसी दिन दैवसंयोग से गुरुदेव को कोई 'पाप' लग गया। उसके दूर करने के लिए गुरुदेव वैशम्पायन जी ने अपने शिष्यों को आज्ञा दी कि—'तुमलोग मेरे लिए व्रत करो।' याज्ञवल्क्य ने यह सुनते ही अभिमानवश कहा—'हे गुरुदेव! इन क्षुद्र शिष्यों से क्या हो सकता है? इस कार्य में तो केवल मैं ही समर्थ हूँ, अतः मैं आपके लिये व्रत करूँगा, जिससे आप निष्पाप हो जाँयगे।' इस तरह ब्राह्मणों के अपमान से अत्यन्त क्रुद्ध होकर गुरुदेव ने याज्ञवल्क्य से कहा—'तुमने इस प्रकार मेरे शिष्यों का अनुचित अपमान किया है, अतः मुझसे तुमने जो कुछ विद्या प्राप्त की है वह सब वापस करो।' महर्षि याज्ञवल्क्य ने योगबल से गुरूपदिष्ट सम्पूर्ण विद्या को मूर्तिमती बनाकर उगल दिया। पश्चात् वैशम्पायनजी ने अपने शिष्यों से कहा—'तुम लोग इस उगले हुए यजुर्वेद को ग्रहण करो'। शिष्यों ने 'तित्तिर' होकर भक्षण किया, जिससे वे यजुर्वेद बुद्धि की मलिनता से कृष्ण हो गये। इधर याज्ञवल्क्य ने अत्यन्त दुःखित होकर अपने तपोबल से भगवान् सूर्य को प्रसन्न किया। सन्तुष्ट भगवान् सूर्यदेव ने अश्वरूप धारण कर याज्ञवल्क्य जी को उन अयातयाम यजुर्मन्त्रों का उपदेश दिया, जो कि उस समय तक किसी को ज्ञात न थे। याज्ञवल्क्य ने उन्हें प्राप्त कर अपनी शिष्यपरम्परा में प्रचार किया। उन्हीं मन्त्रों को 'शुक्ल यजुर्वेद' कहते हैं। यही अर्थ निम्नलिखित श्रुति से भी स्पष्ट है—

'आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते' ।
(श० ब्रा० १४।७।५।३३)

इसी विषय की पुष्टि भागवत (२।६।३३) में भी की गई है—

एवं स्थितः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः ।
यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादतः ॥

आधुनिक समाज का कथन है कि कृष्णयजुर्वेद में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के सङ्कुचित होने के कारण उसका सुखेन बोध नहीं हो पाता, अतः उसे 'कृष्ण यजुर्वेद' कहते हैं। और शुक्ल यजुर्वेद में मन्त्र तथा ब्राह्मण के पृथक् तथा विस्पष्ट होने के कारण सरलता से उसका बोध हो जाता है, अतः उसे 'शुक्ल यजुर्वेद' कहते हैं। परन्तु इस सिद्धान्त में कोई प्रमाण नहीं मिलता, अतः हमारे मत से पूर्वोक्त सिद्धान्त ही ठीक है।

ऋग्वेद के उपलब्ध ब्राह्मणादि का निरूपण

ब्राह्मण—ऐतरेय और कौषीतकी (शाङ्खायन), ये दो ऋग्वेद के ब्राह्मण हैं।

आरण्यक—ऐतरेयारण्यक और कौषीतकारण्यक, ये दो ऋग्वेद के आरण्यक हैं।

श्रौतसूत्र—आश्वलायन श्रौतसूत्र और शाङ्खायन श्रौतसूत्र, ये दो ऋग्वेद के श्रौतसूत्र हैं।

गृह्यसूत्र—आश्वलायन गृह्यसूत्र और शाङ्खायन गृह्यसूत्र, ये दो ऋग्वेद के गृह्यसूत्र हैं।

व्याकरण—ऋक्प्रातिशाख्य, यह ऋग्वेद का व्याकरण है।

शुक्ल यजुर्वेद के उपलब्ध ब्राह्मणादि का निरूपण

ब्राह्मण—माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण और काण्व शतपथब्राह्मण, ये दो शुक्लयजुर्वेद के ब्राह्मण हैं।

आरण्यक—काण्वशाखीय बृहदारण्यक, यह शुक्लयजुर्वेद का आरण्यक है।

श्रौतसूत्र—कात्यायन श्रौतसूत्र, यह शुक्ल यजुर्वेद का श्रौतसूत्र है।

गृह्यसूत्र—पारस्कर गृह्यसूत्र, यह शुक्लयजुर्वेद का गृह्यसूत्र है।

धर्मसूत्र—गौतम धर्मसूत्र, यह शुक्लयजुर्वेद का धर्मसूत्र है।

व्याकरण—शुक्ल यजुःप्रातिशाख्य, यह शुक्लयजुर्वेद का व्याकरण है।

कृष्ण यजुर्वेद के उपलब्ध ब्राह्मणादि का निरूपण

ब्राह्मण—तैत्तिरीय ब्राह्मण, यह कृष्णयजुर्वेद का ब्राह्मण है।

आरण्यक—तैत्तिरीयारण्यक, यह कृष्णयजुर्वेद का आरण्यक है।

श्रौतसूत्र—सत्याषाढ श्रौतसूत्र, मानव श्रौतसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र, वैखानस श्रौतसूत्र, बौधायन श्रौतसूत्र, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र और हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र, ये सात कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्र हैं।

गृह्यसूत्र—आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, काठक गृह्यसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र और लौगाक्षि गृह्यसूत्र, ये सात कृष्णयजुर्वेद के गृह्यसूत्र हैं।

धर्मसूत्र—बौधायन धर्मसूत्र और आपस्तम्ब धर्मसूत्र, ये दो कृष्णयजुर्वेदके धर्मसूत्र हैं।

व्याकरण—तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, यह कृष्णयजुर्वेद का व्याकरण है।

सामवेद के उपलब्ध ब्राह्मणादि का निरूपण

ब्राह्मण—ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण, दैवत ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण, ये नव सामवेद के ब्राह्मण हैं। इनमें सर्वापेक्षया 'ताण्ड्य ब्राह्मण' विशेष बड़ा है, इसी से इसको 'ताण्ड्य महाब्राह्मण' कहा जाता है। इसके दो और भी नाम हैं—'प्रौढ ब्राह्मण' तथा 'पञ्चविंश ब्राह्मण'।

आरण्यक—सामवेद में आरण्यक शाखा का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

श्रौतसूत्र—द्राह्यायण श्रौतसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र और मशकसूत्र, ये तीन सामवेद के श्रौतसूत्र हैं।

गृह्यसूत्र—गोभिलगृह्यसूत्र, खदिर गृह्यसूत्र और जैमिनीय गृह्यसूत्र, ये तीन सामवेद के गृह्यसूत्र हैं।

धर्मसूत्र—सामवेद में धर्मसूत्र का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है।

व्याकरण—सामप्रातिशाख्य (पुष्पकृत), यह सामवेद का व्याकरण है।

अथर्ववेद के उपलब्ध ब्राह्मणादि का निरूपण

ब्राह्मण—गोपथ ब्राह्मण, यह अथर्ववेद का ब्राह्मण है।

आरण्यक—अथर्ववेद में कोई आरण्यक ग्रन्थ नहीं मिलता है।

गृह्यसूत्र—वैखानस गृह्यसूत्र और वाराह गृह्यसूत्र, ये दो अथर्ववेद के गृह्यसूत्र हैं।

धर्मसूत्र—अथर्ववेद में धर्मसूत्र का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

व्याकरण—अथर्वप्रातिशाख्य, यह अथर्ववेद का व्याकरण है।

विलुप्त ब्राह्मण

चरक ब्राह्मण, श्वेताश्वतर ब्राह्मण, काठक ब्राह्मण, मैत्रायणीय ब्राह्मण, जाबाल ब्राह्मण, खाण्डिकेय ब्राह्मण, हारिद्रविक ब्राह्मण, कङ्कति ब्राह्मण, गालव ब्राह्मण, औखेय ब्राह्मण, भाल्लवि ब्राह्मण, शाट्यायनि ब्राह्मण, कालबवि ब्राह्मण, रौरुकी ब्राह्मण, तुम्बरु ब्राह्मण, आरुणेय ब्राह्मण, पैङ्गायनि ब्राह्मण, सौलभ ब्राह्मण, शैलालि ब्राह्मण, पराशर ब्राह्मण, माषशरावि ब्राह्मण, कापेय ब्राह्मण और अन्वाख्यान ब्राह्मण।

वेदों के उपनिषद् ❀

वेदों में [1]कर्मकाण्ड [2]उपासनाकाण्ड और [3]ज्ञानकाण्ड इन तीन विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें कर्मकाण्ड को 'ब्राह्मण', उपासनाकाण्ड को 'आरण्यक' और ज्ञानकाण्ड को 'उपनिषद्' कहा जाता है।

हम यहाँ केवल ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषदों के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहते हैं। ज्ञानकाण्डात्मक उपनिषदों की संख्या के बारे में कहा गया है—

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता॥

(मुक्तिकोपनिषद्, अध्याय १)

अर्थात् चारों वेदों की जितनी शाखाएँ हैं उतने ही उपनिषद् हैं। अर्थात् प्रत्येक वेद की प्रत्येक शाखाका प्रत्येक उपनिषद् स्वतन्त्र है। आज वर्तमान समय में जिस प्रकार वेद-चतुष्टयको ११३१ शाखाओं में केवल १२ शाखाएँ उपलब्ध हैं, उसी प्रकार इस समय वेद-संबद्ध उपनिषद् केवल १०८ प्राप्त हैं। अवशिष्ट उपनिषद् किसी दैविक प्रकोप अथवा हम भारतीयों की घृणित उपेक्षा से लुप्तप्राय से हो गये हैं। उपलब्ध उपनिषदों की भी यह व्यवस्था है कि आज बहुधा लोग उनके नाम तक नहीं जानते और न उनके पास उपलब्ध उपनिषद् ही प्राप्त हैं।

❀ हमारा यह लेख विस्तृत रूप से 'गीताधर्म' के १४ वें वर्ष के ५ वें अङ्क में प्रकाशित हो चुका है। जिसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है।

१—यज्ञ करना, दान देना और अध्यापन करना आदि 'कर्मकांड' कहा जाता है।

२—सन्ध्या और सूर्योपस्थान आदि 'उपासनाकाण्ड' कहा जाता है।

३—उपनिषद् भाग को 'ज्ञानकाण्ड' कहा जाता है।

अष्टोत्तरशत उपनिषदों के अन्तर्गत शुक्ल यजुर्वेदीय 'मुक्तिकोप—निषद्' के प्रथमाध्याय में चारों वेदों के उपनिषदों का इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

ऋग्वेद के १० उपनिषद् हैं—ऐतरेयोपनिषत्, कौषीतकीब्राह्मणोपनिषत्, नादबिन्दूपनिषत्, आत्मप्रबोधोपनिषत्, मुद्गलोपनिषत्, अक्षमालिकोपनिषत्, त्रिपुरोपनिषत्, सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् और बह्वृचोपनिषत्।

शुक्ल यजुर्वेद के १९ उपनिषद् हैं—ईशोपनिषत्, बृहदारण्यकोपनिषत्, जाबालोपनिषत्, हंसोपनिषत्, परमहंसोपनिषत्, सुबालोपनिषत्, मन्त्रिकोपनिषत्, निरालम्बोपनिषत्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्, मण्डलब्राह्मणोपनिषत्, अद्वयतारकोपनिषत्, पैङ्गलोपनिषत्, भिक्षुकोपनिषत्, तुरीयातीतोपनिषत्, अध्यात्मोपनिषत्, याज्ञवल्क्योपनिषत्, शाट्यायनीयोपनिषत् और मुक्तिकोपनिषत्।

कृष्ण यजुर्वेद के ३२ उपनिषद् हैं—कठोपनिषत्, तैत्तिरीयोपनिषत्, ब्रह्मोपनिषत्, कैवल्योपनिषत्, श्वेताश्वतरोपनिषत्, गर्भोपनिषत्, नारायणोपनिषत्, अमृतबिन्दूपनिषत्, अमृतनादोपनिषत्, कालाग्निरुद्रोपनिषत्, क्षुरिकोपनिषत्, सर्वसारोपनिषत्, शुकरहस्योपनिषत्, तेजोबिन्दूपनिषत्, ध्यानबिन्दूपनिषत्, ब्रह्मविद्योपनिषत्, योगतत्त्वोपनिषत्, दक्षिणामूर्त्युपनिषत्, स्कन्दोपनिषत्, शारीरकोपनिषत्, योगशिखोपनिषत्, एकाक्षरोपनिषत्, अक्ष्युपनिषत्, अवधूतोपनिषत्, कठरुद्रोपनिषत्, रुद्रहृदयोपनिषत्, योगकुण्डलिन्युपनिषत्, पञ्चब्रह्मोपनिषत, प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्, वराहोपनिषत्, कलिसन्तरणोपनिषत् और सरस्वतीरहस्योपनिषत्।

सामवेद के १६ उपनिषद् हैं—केनोपनिषत्, छान्दोग्योपनिषत्, आरुणिकोपनिषत्, मैत्रायण्युपनिषत्, मैत्रेय्युपनिषत्, वज्रसूचिकोपनिषत्, योगचूडामण्युपनिषत्, वासुदेवोपनिषत्, महोपनिषत्, संन्यासोपनिषत्, अव्यक्तोपनिषत्, कुण्डिकोपनिषत्, सावित्र्युपनिषत्, रुद्राक्षोपनिषत्, दर्शनजाबालोपनिषत् और जाबाल्युपनिषत्।

अर्थवेद के ३१ उपनिषद् हैं—प्रश्नोपनिषत्, मुण्डकोपनिषत्, माण्डूक्योपनिषत्, अथर्वशिरोपनिषत्, अथर्वशिखोपनिषत्, बृहज्जाबालोपनिषत्, नृसिंहतापिन्युपनिषत्, नारदपरिव्राजकोपनिषत्, सीतोपनिषत्‌शरभोपनिषत्, महानारायणोपनिषत्, रामरहस्योपनिषत्, रामतापिन्युपनिषत्, शाण्डिल्योपनिषत्, परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्, अन्नपूर्णोपनिषत्, सूर्योपनिषत्, आत्मोपनिषत्, पाशुपतपरब्रह्मोपनिषत्, त्रिपुरातपनोपनिषत्, देव्युपनिषत्, भावनोपनिषत्, ब्रह्मोपनिषत्, जाबालोपनिषत्, गणपत्युपनिषत्, महावाक्योपनिषत्, गोपालतनोपनिषत्, कृष्णोपनिषत्, हयग्रीवोपनिषत्, दत्तात्रेयोपनिषत् और गारुडोपनिषत् ।

उपर्युक्त चारों वेदों के उपनिषदों को सङ्कलन करने से १०८ उपनिषद् होते हैं। यही उपनिषदें अष्टोत्तरशत उपनिषदों के नाम गद्य-पद्यरूप में 'मुक्तिकोपनिषद्' के प्रथमाध्याय में उल्लिखित हैं। 'उपनिषत्समुच्चय' नामक ग्रन्थ में अष्टोत्तरशत उपनिषदोंका संग्रह प्रकाशित भी हो चुका है।

अधुना उपनिषदों की संख्या २३२ या २३९ कही जाती है। २३९ उपनिषदों के नाम 'उपनिषद्वाक्य महाकोश' के दो भागों में मिलते हैं, किन्तु इनमें 'अल्लोपनिषद्' जैसे कतिपय अप्राचीन एवं अप्रामाणिक उपनिषदों का भी समावेश पाया जाता है। अतः वेद-सम्बद्ध अष्टोत्तरशत उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषद् विशेष प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। मुक्तिकोपनिषद् के 'सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्' इस वाक्यानुसार अष्टोत्तरशत उपनिषद् ही प्रामाणिक और शास्त्रप्रतिपादित हैं।

अष्टोत्तरशतोपनिषदों में मुख्य उपनिषद् १० हैं, जिनके नाम ये हैं—

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड माण्डूक्य-तित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥
(मुक्तिकोपनिषत्)

ऋग्वेद का ऐतरेय, शुक्ल यजुर्वेद के ईश और बृहदारण्यक, कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय और कठ, सामवेद के केन और छान्दोग्य तथा अथर्ववेद के प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषद् हैं। उक्त दशों उपनिषदों में केवल 'ईशोपनिषद्' संहिता भाग के अन्तर्गत है और अवशिष्ट नौ उपनिषद् ब्राह्मण भाग के अन्तर्गत हैं।

वस्तुतः उक्त दशोपनिषद् वैदिक—विषयसे ओतप्रोत हैं और शेष उपनिषद् वैदिक विषय से शून्य हैं। इसलिए भगवान् शङ्कराचार्यजी ने केवल वेदसम्बद्ध दशोपनिषदों पर ही भाष्य किया है। अवशिष्ट उपनिषदों को परिशिष्ट समझ कर उन पर भाष्य नहीं किया। अतएव अष्टोत्तरशतोपनिषदों में दश उपनिषद् मुख्य माने जाते हैं। सम्प्रति दशोपनिषदों का ही विशेषरूप से अध्ययनाध्यापन विद्वत्समाज में विशेष प्रचलित है।

उपर्युक्त दशोपनिषदों में भी माध्यन्दिनीय ईश और बृहदारण्यक ये दो उपनिषद् विशेष महत्त्व रखते हैं। क्योंकि दशोपनिषदों में 'ईशोपनिषद्' सबसे छोटा होने पर भी यह समस्त उपनिषदों के प्रारम्भ में है। इसीलिए यह मुख्य है और दूसरा 'बृहदारण्यकोप-निषद्' समस्त उपनिषदों के अन्त में है, जो कि ईशोपनिषद्का ही व्याख्यानरूप है। यह सबसे बड़ा उपनिषद् है। समस्त उपनिषदों की 'आरण्यक' संज्ञा है, किंतु बृहदारण्यक के महत्त्व की दृष्टि से इसमें 'बृहत्' शब्द विशेष दिया गया है। जिस प्रकार रेलगाड़ी के प्रारम्भ में इंजन और अन्त में गार्डके बगैर समूची गाड़ी की चलन-क्रिया दुष्कर है, उसी प्रकार माध्यन्दिनीय ईश और बृहदारण्यक इन दो उपनिषदोंके आदि-अन्त में रहे बिना अन्य उपनिषदों की ज्ञानगति सर्वथा असम्भव है। वस्तुतः समस्त उपनिषदों का बीज 'ईशोपनिषद्' है और ईशोपनिषद् का ही व्याख्यानरूप 'बृहदारण्यक' है।

चारों वेदों की शिक्षाएँ

ऋग्वेद की केवल[१] पाणिनीय शिक्षा है।

शुक्ल-यजुर्वेद की २५ शिक्षाएँ प्रसिद्ध हैं—याज्ञवल्क्य शिक्षा, वाशिष्ठी शिक्षा, कात्यायनी शिक्षा, पाराशरी शिक्षा, माण्डव्य शिक्षा, अमोघानन्दिनी शिक्षा, लघ्वमोघानन्दिनी शिक्षा, अमरेशी शिक्षा, केशवी गद्यात्मिका, केशवी पद्यात्मिका, मल्लशर्म शिक्षा, स्वराङ्कुश शिक्षा, अवसाननिर्णय शिक्षा, स्वरभक्तिनिर्णय शिक्षा, क्रमसन्धान शिक्षा, गलदृक् शिक्षा, मनःस्वार शिक्षा, प्रतिशाख्य-प्रदीप शिक्षा, वेद-परिभाषासूत्र शिक्षा, वेदपरिभाषाकारिका शिक्षा, यजुर्विधान शिक्षा, स्वराष्टक शिक्षा, क्रमकारिका शिक्षा, माध्यन्दिनीय शिक्षा और लघु-माध्यन्दिनीय शिक्षा।

कृष्ण-यजुर्वेद की केवल १ व्यास शिक्षा है।

सामवेद की ३ शिक्षाएँ हैं—गौतमी शिक्षा, लोमशी शिक्षा और नारदी शिक्षा।

अथर्ववेद की केवल १ माण्डूकि शिक्षा है।

सर्ववेदविषयिणी शिक्षाएँ

चारों वेदों में उपयुक्त होनेवाली ३ शिक्षाएँ प्रसिद्ध हैं—पाणिनीय शिक्षा, शिक्षाप्रकाश और षोडशश्लोकी शिक्षा।

ऋग्वेद के परिशिष्ट

ऋग्वेद के सूत्र-ब्राह्मणात्मक २२ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

बृहद्देवता, आर्षानुक्रमणी, छन्दोऽनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी, निविदध्याय, रैभ्याध्याय, कुन्तापाध्याय, पारीक्षित्यध्याय, कारव्य, दिशां क्लृप्ति, जनकल्प, इन्द्रप्रगाथा, एतशप्रलाप, प्रवह्लिका, आजिज्ञा-सेन्या, प्रतिराध्य, अतिवाद, देवनीथ, भूतेच्छद, पुरोरुक्, प्रैषाध्याय

और ऋग्विधान। इनके अतिरिक्त कुछ और भी परिशिष्ट मन्त्ररूप में ऋक्संहिता में तत्तत्स्थलों में पठित हैं। विस्तारभय से उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है। ऋक्संहितान्तर्गत परिशिष्टों के परिचयार्थ हमारी लिखित 'वेद-विज्ञान-मीमांसा' (प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, काशी) नामकी पुस्तक देखनी चाहिए।

शुक्ल यजुर्वेद के परिशिष्ट

शुक्ल यजुर्वेद के १८ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

यूपलक्षण, छागलक्षण, प्रतिज्ञासूत्र, अनुवाकसूत्र, क्रतुसंख्या परिशिष्ट, निगम परिशिष्ट, चरणव्यूह परिशिष्ट, श्राद्धसूत्र, शुल्वसूत्र, पार्षदसूत्र, इष्टकासूत्र, इष्टकापूरणसूत्र, प्रवराध्याय, उक्थ्यशास्त्र, यज्ञपार्श्व परिशिष्ट, हौत्र परिशिष्ट, प्रसवोत्थान, गृह्यपरिशिष्ट और कूर्मलक्षण।

कृष्ण यजुर्वेद का परिशिष्ट

कृष्ण यजुर्वेद का केवल एक 'हिरण्यकेशि गृह्यशेषसूत्र' परिशिष्ट प्रसिद्ध है।

सामवेद के परिशिष्ट

सामवेद के ५४ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

स्नानसूत्र, सन्ध्यासूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, अपरसूत्र, पुष्पसूत्र, गृह्यासंग्रह, कर्मप्रदीप, गोभिलीय परिशिष्ट, श्राद्धकल्प, अद्भुतशान्ति, कुशकण्डिका, महानाम्नी, आचमन, अमृताहरण, गायत्र्यनुक्रमणी, सामगीती, सामप्रकाश, सामदर्पण, सामसंख्या, उपवीत, स्थितिसन्धि, रुद्रविधान, मात्रालक्षण, छल्लाविधान, वृषोत्सर्ग, क्रतुसंख्याविधि, षड्वर्णिका, गीतिसंज्ञा, गीतिकल्प, प्रवासविधि, प्रणत, चरणव्यूह, कलशोत्पत्ति, नैगेयानां ऋत्तुदेवता, प्रौष्ठपदी, सावित्रपाणी, गणपतिस्तोत्र, भूतपाड़ी, गीतपाड़ी, मन्त्रानुक्रमणिका,

पत्नहोमविधान, विशेषभूतपाड़ी, स्तोभानुसंहार, आवणविधि, संस्कार, हितवाक्य, उत्तरहितवाक्य, सोमोत्पत्ति, प्रातर्होम, गायत्रविधान, श्रौतप्रायश्चित्त, श्रौतहोम, अमृताहरण और अवगृहपददशक।

अथर्ववेद के परिशिष्ट

अथर्ववेद के ७३ परिशिष्ट प्रसिद्ध हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं–

नक्षत्रकल्प, राष्ट्रसंवर्ग, राजप्रथमाभिषेक, राजपुरोहितकर्म, पुष्याभिषेक, पिष्टरात्रिकल्प, घृतावेक्षण, तिलधेनुविधि, भूमिदानविधि, तुलादानविधि, अपूपदानविधि, हिरण्यगर्भविधि, हस्ति-रथ-दानविधि, अश्व-रथ-दानविधि, गोसहस्रदानविधि, हस्त्यश्वदीक्षा, असांवत्सरीय हस्त्यश्वदीक्षा, वृषोत्सर्ग, इन्द्रमहोत्सवविधि, ब्रह्मयाग, स्कन्दयागमहोत्सवविधि, सम्भारलक्षण, अरणिलक्षण. यज्ञपात्रलक्षण, वेदिलक्षण, कुण्डलक्षण, समिल्लक्षण, स्रुवलक्षण, हस्तलक्षण, लघुलक्षहोम, बृहल्लक्षहोम, कोटिहोमविधि, गणमालाविधि. घृतकम्बलविधि, अनुलोमकल्प, आसुरीकल्प, उच्छुष्मकल्प, समुच्चयप्रायश्चित्तविधि, ब्रह्मकूर्चविधि. तड़ागादिविधि, पाशुपतव्रत, सन्ध्योपासनविधि, स्नानविधि, तर्पणविधि श्राद्धविधि, अग्निहोत्रकल्प, उभयपटल, वर्षापटल, चरणव्यूह, चन्द्रप्रातिपदिक, ग्रहयुद्ध, ग्रहसंग्रहविधि, राहुचार, केतुचार ऋतुकेतुलक्षण, कूर्मविभाग, मण्डल, दिग्दाहलक्षण, उल्कालक्षण, विद्युतलक्षण, परिवेषलक्षण, भूमिकम्पलक्षण, नक्षत्रग्रहोत्पातलक्षण, शेषोत्पातलक्षण, सद्योवृष्टिलक्षण, अद्भुतशान्ति, स्वप्नाध्याय, अथर्वहृदय, आरात्रिकल्प, भार्गवपरिशिष्ट, बार्हस्पत्य परिशिष्ट, उशनसाद्भुत परिशिष्ट और महाद्भुत परिशिष्ट।

वेदों के कल्प

चारों वेदों के कर्म-विभाग के व्यवस्थापनार्थ ऋषियों ने नक्षत्र कल्प, वेद कल्प, संहिता कल्प, आङ्गिरस कल्प और शान्ति कल्प,

इन पाँच कल्पों का निर्माण किया है। इन पाँचों कल्पों में नक्षत्र कल्प, आङ्गिरस कल्प और शान्ति कल्प ये तीन कल्प चारों वेदों के लिए एक ही कहे गए हैं। और वेदकल्प तथा संहिताकल्प ये दो कल्प प्रत्येक वेद के लिए पृथक्-पृथक् कहे गए हैं, इनका विस्तृत विवेचन 'नारदपुराण' में इस प्रकार किया गया है—

नक्षत्रकल्पो वेदानां संहितानां तथैव च।
चतुर्थः स्यादाङ्गिरसः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः॥
नक्षत्राधीश्वराख्यानं विस्तरेण यथातथम्।
नक्षत्रकल्पे निर्दिष्टं ज्ञातव्यं तदिहापि च॥
वेदकल्पे विधानं तु ऋगादीनां मुनीश्वर।
धर्मार्थकाममोक्षाणां सिद्ध्यै प्रोक्तं सविस्तरम्॥
मन्त्राणां ऋषयश्चैव छन्दांस्यथ च देवताः।
निर्दिष्टाः संहिताकल्पे मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
तथैवाङ्गिरसे कल्पे षट् कर्माणि सविस्तरम्।
अभिचारविधानेन निर्दिष्टानि स्वयम्भुवा॥
शान्तिकल्पे तु दिव्यानां भौमानां मुनिसत्तम।
तथान्तरिक्षोत्पातानां शान्तयो ह्युदिताः पृथक्॥
सङ्क्षेपेणैतदुद्दिष्टं लक्षणं कल्पलक्षणे।
विशेषः पृथगेतेषां स्थितः शाखान्तरेषु च॥

नक्षत्र कल्प में नक्षत्रों का विधान प्रत्येक नक्षत्र देवता के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से लिखा है। (यह कल्प चारों वेदों के लिए एक ही कहा गया है)।

वेदकल्प में श्रौतकर्म अर्थात् प्रत्येक वेद के कार्य पूर्वकथनानुसार अलग-अलग कहे गए हैं। (यह कल्प प्रत्येक वेद का पृथक्-पृथक् कहा गया है)।

संहिता कल्प (संहिताविधि अथवा स्मार्तसूत्र) में समस्त संस्कारों का वर्णन तथा संहिता के समस्त मन्त्रों का विधान, ऋषि, छन्द

और देवता के रहस्य को जानकर किया गया है, किन्तु यह केवल 'अथर्वसंहिता-कल्प' में ही दिखाई देता है। अन्य वेदों के संहिता कल्प में केवल संस्कार का ही विधान किया गया है। इसका कारण यह है कि त्रयी का विनियोग केवल 'श्रौत' में ही है, उसमें काम्य कर्म प्रधान रूप से नहीं हैं। अथर्ववेद में विशेष रूप से काम्य-कर्म की प्रधानता है, अतः अथर्वसंहिता के समस्त मन्त्रों का विधान संहिता कल्प में दिया गया है। (यह कल्प प्रत्येक वेद का पृथक्-पृथक् कहा गया है)।

आङ्गिरस कल्प में मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और जागरण इन छः प्रयोगों का उल्लेख किया गया है, साथ ही अभिचार कर्म का भी विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। (यह कल्प चारों वेदों के लिए एक ही कहा गया है)।

शान्ति कल्प में भूकम्पन, तारापतन, सप्तग्रही, अग्निवृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि अनेक प्रकार के उत्पातशान्त्यर्थ तथा पर कृत्यादि अभिचार एवं महामारी प्रभृति के शमनार्थ तीस प्रकार की महाशान्तियाँ कही गई हैं। इन महाशान्तियों का विस्तृत विवेचन 'कोटिहोम-पद्धति' में किया गया है। (यह कल्प चारों वेदों के लिए एक ही कहा गया है)।

चारों वेदों के वर्ण आदि स्वरूप का निरूपण

ऋग्वेदः श्वेतवर्णः स्यात् द्विभुजो रासभाननः।
अक्षमालायुतः सौम्यः प्रीतश्चाध्ययनोद्यतः॥ १॥
अजास्यः पीतवर्णः स्यात् यजुर्वेदोऽक्षसूत्रधृक्।
वामे कुलिशपाणिस्तु भूतिदो मङ्गलप्रदः॥ ३॥
नीलोत्पलदलाभासः सामवेदो हयाननः।
अक्षमालान्वितो दक्षे वामे कम्बुधरः स्मृतः॥ २॥
अथर्वणाभिधो वेदो धवलो मर्कटाननः।
अक्षसूत्रं च खट्वाङ्गं बिभ्राणो यजनप्रियः॥४॥ (हेमाद्रौ)

ऋग्वेद का सफेद वर्ण है, दो हाथ हैं, गर्दभ जैसा मुख है,

स्फटिक माला धारण किए हुए हैं, सौम्य हैं, प्रिय हैं और अध्ययन में सर्वदा उद्यत रहते हैं ॥ १ ॥

यजुर्वेद का पीला वर्ण है, बकरी जैसा मुख है, स्फटिक को माला धारण किए हुए हैं, बाएँ हाथ में वज्र धारण किए हुए हैं, ऐश्वर्य और मङ्गल को देनेवाले हैं ॥ २ ॥

सामवेद का नील कमल से उत्पन्न आभा की तरह वर्ण है, घोड़े जैसा मुख है, दाहिने हाथ में स्फटिक की माला और बाएँ हाथ में शंख धारण किए हुए हैं ॥ ३ ॥

अथर्ववेद का सफेद वर्ण है, बन्दर जैसा मुख है, स्फटिक की माला और खट्वाङ्ग धारण किए हुए हैं, तथा यज्ञ के प्रेमी हैं ॥ ४ ॥

ब्राह्मण भाग भी वेद हैं

प्राचीन महर्षिगण तथा कल्पसूत्रादिकार मन्त्र तथा ब्राह्मण इन दोनों भागों को 'वेद' स्वीकार करते हैं। अतएव भगवान् बौधायन ने अपने धर्मसूत्र में "मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः" (बौ० सू० १।२) इससे तथा आपस्तम्ब एवं कात्यायन ने क्रमशः "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (आप० यज्ञप० २४।१।३१, कात्या० प्रतिज्ञाप० १।१) इस सूत्र से ब्राह्मण भाग को वेदत्व ही स्पष्ट स्वीकार किया है। मीमांसाशास्त्रकार महर्षि जैमिनि ने "वेदसंयोगात्" (जैमि० ३।४।२२) इस सूत्र में "तस्मात्सुवर्णं हिरण्यं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" इस वाक्य से विहित सुवर्ण धारण का ही वेद के साथ संयोग कहा है। यदि ब्राह्मण भाग को वेदत्व न हो तो उस वाक्य से विहित सुवर्ण धारण का वेद के साथ संयोग कैसे उत्पन्न होगा ? इसी प्रकार "वेदो वा प्रायदर्शनात्" (जै० ३।३।२), वेदसंयोगान्न प्रकरणे बाध्यते" (जै० ३।३।८), "वेदोपदेशात् पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः" (जैमि० ३।७।५०), "संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन्" (जैमि० ३।८।३) इत्यादि सूत्रों से भी ब्राह्मण भाग के वेदत्वकी ही परिपुष्टि सुतरां सिद्ध होती है।

कुछ लोगों का कहना है—'वेद' शब्द विद्या का अपर पर्याय है और मन्त्र भाग ही समस्त विद्याओं का निदान था। अतः विद्या के अपर पर्याय 'वेद' शब्द से मन्त्र भाग ही गृहीत होता है। अतएव "वेदेन रूपे व्यपिबत्सुतासुतौ" (शु० य० १६।७८) "यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपाः" (अथर्व० ४।७।६) "त्रयो वेदा अजायन्त" (ऐत० ब्रा० २५।७) "वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः" (तैत्ति० ब्रा० ३।१०।११।४) इत्यादि अनेक प्रमाण भी संगत होते हैं। किन्तु निर्दिष्ट प्रमाणों द्वारा केवल मन्त्र-भागात्मकत्व ही नहीं, वरन् मन्त्रब्राह्मणोभयात्मकता ही सिद्ध होती है और यत्र तत्र प्रयुक्त 'त्रयी' शब्द का भी उभयात्मकत्व में ही तात्पर्य है।

वेद चार ही हैं

अमरकोश के 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायस्त्रयी' इन नामों में 'वेद' का पर्यायवाचक शब्द 'त्रयी' भी आता है। वेद-मन्त्रों को त्रयी कहने में रचना के तीन भेद ही कारण हैं। क्योंकि गद्य, पद्य तथा गान के अतिरिक्त और कोई वेद की रचना का प्रकार नहीं है, अतएव ऋक्संहिता, यजुःसंहिता, सामसंहिता तथा अथर्वसंहिता में ऋक्, यजु और सामके अतिरिक्त कोई मन्त्र नहीं मिलता। अतः महर्षि जैमिनि ने अपने 'मीमांसादर्शन' में इस प्रकार कहा है—

"तेषामृक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः।" (२।१।३५—३७)

'अधिकरणमाला' में भी स्पष्ट कहा है—

"पादेनार्थेन चोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि, वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषि।"

उपर्युक्त सिद्धान्तानुसार तीन प्रकार की रचनाओं से युक्त वाणी को ही 'त्रयी' अथवा 'वेद' कहते हैं। यद्यपि मंत्रों की रचना एवं नियम में भिन्नता होने के कारण उनका 'त्रयी' नाम पड़ा है, तथापि त्रयी-शब्दबोध्य 'मन्त्र-भाग' ही होता है, यह बात सुस्पष्ट है।

"त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः, सूर्यात्सामवेदः ।"

(शत० ब्रा० ११।५।८)

"यद्दचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति ।" (ऐत० ब्रा० ५।५।८)

"स एतां त्रयीं विद्यामभ्यपतत् ।" (छान्दो० ब्रा० ६।१७)

"सैषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि ।" (शत०ब्रा०१।५।१।२)

"यस्मिन्नृचः साम यजूंषि ।" (शु० य० ३४।५)

अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः ।
ऋचः सामानि यजूंषि सा हि स्मृता सताम् ॥

(तैत्ति० ब्रा० १।२।२६)

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् । दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ॥

(मनु० १।२३)

उपर्युक्त अनेक श्रुतिस्मृति वाक्यों में तीन वेद का ही आविर्भाव कहा गया है, अतएव वेद की 'त्रयी' यह संज्ञा व्यवहृत की गई है। वेद की त्रयी-संज्ञा होने के कारण प्रतीत होता है कि पहले ऋक्, यजु, साम नामक केवल तीन ही वेद थे और 'अथर्व' नामक कोई वेद ही नहीं था। वस्तुतः 'त्रयी' शब्द से ऋक्, यजु, साम इन तीन वेदों का ही बोध होता है, न कि अथर्ववेद का। अथर्ववेद का बोध आपाततः गौणी वृत्ति से ही समझना चाहिए। इस प्रकार ऋक्, यजु और साम ये तीन वेद ही अत्यन्त प्राचीन सिद्ध हुए। कुछ लोगों का कहना है कि अथर्ववेद पूर्वोक्त वेदत्रय की अपेक्षा नवीन तथा उन्हीं का परिशिष्ट रूप है, परन्तु इस कथन में विशेष प्रामाणिकता प्रतीत नहीं होती, क्योंकि उसका साधक कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यदि यह कहा जाय कि अथर्ववेद में यदा कदा प्रयुक्त होने वाले 'त्रयी' शब्द का व्यवहार ही इस कल्पना का मूल कारण है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि तुल्ययुक्त्या त्रयी नाम से उसके (अथर्ववेद के) अभाव की ही सिद्धि क्यों न समझी जाय ? । अतः वेद तीन प्रकार के

ही होते हैं। अथर्ववेद को ऋग्यजुःस्वरूप होने के कारण उसे अतिरिक्त स्वीकार करना उचित नहीं है।

जिस प्रकार सामप्राधान्य 'सामवेद' में पठित ऋक् मन्त्रों को ऋक्त्व, यजुर्मन्त्रों को यजुष्ट्वादि स्वीकृत होने पर भी उनका सामवेदत्व खण्डित नहीं होता उसी प्रकार अथर्ववेद में पठित मन्त्रों में ऋक्त्व एवं यजुष्ट्वादि स्वीकृत होने पर भी उनकी अथर्व-वेदस्वरूपता प्रतिपादन में कोई क्षति नहीं है। अतः अथर्ववेद भी स्वतन्त्र वेद है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

अथर्ववेद-सहित वेद चतुष्टय की सिद्धि में निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामभेदेन मन्त्रो वेदचतुष्टये॥
अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते।
ऋक् पादबद्धा गीतन्तु साम गद्यं यजुर्मतम्॥
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते॥ (सर्वानुक्रमणी-वृत्ति)

'स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थम्'। (छान्दोग्यब्राह्मण)

'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।' (गोपथब्राह्मण)

'चत्वारो वेदाः साङ्गाः सोपनिषदः सेतिहासाः।' (गायत्र्युपनिषत्)

'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः।' (मुण्डकोपनिषत्)

'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।' (बृहदारण्यक)

यस्मादृचोऽअपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम्॥ (अथर्ववेद, १०।७।२०)

साङ्गोपनिषदान्वेदान् चतुराख्यानपञ्चमान्।
एकतश्चतुरो वेदान् भारतञ्चैतदेकतः॥ (महाभारत)

वस्तुतः अथर्ववेद कतिपय मन्त्र—विशेषरूप को ही नहीं कहते, किन्तु जिस प्रकार शाकलादि शाखाओं का नाम ऋग्वेद, काण्वादि

शाखाओं का नाम यजुर्वेद, कौथुमादि शाखाओं का नाम सामवेद है, इसी प्रकार शौनकादि शाखाओं का नाम अथर्ववेद है। अतः एक ही वेद त्रिविध रचनाओं के कारण 'त्रयी' इस नाम से तथा [1]ऋक्संहिता, [2]यजुःसंहिता, [3]सामसंहिता और [4]अथर्वसंहिता से युक्त चार संख्या वाला कहा जाता है। इन चार संख्या वाले वेद के उपयोगार्थ क्रमशः होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों का बोध "ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्०" (ऋ० १०।७१।११) इत्यादि श्रुति से हुआ। इन चारों ऋत्विजों के बोध होने पर 'ऐतरेय ब्राह्मण' ने 'अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते ?' (५।५।८) यह शंका उपस्थित की। इस शंका का समाधान भी वही 'ऐतरेय ब्राह्मण' 'यदेतत् त्रय्यै विद्यायै शुक्रं तेन ब्रह्मत्वमकरोत्' इस प्रकार करता है।

"यदृचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवत्यथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्।" (ऐ० ब्रा० ५।५।८)।

उपर्युक्त ऐतरेय ब्राह्मण में 'त्रय्या विद्यया' इससे समस्त त्रयी-विद्या ब्रह्मत्व-करण में साधक है, यह प्रतीत होता है। अतः अथर्वसंहिता के अध्ययन के बिना समस्त त्रयी का ज्ञान कथमपि सम्भव नहीं है। क्योंकि होता, अध्वर्यु, उद्गाता इन नामों के व्यवहार के अतिरिक्त भी ऋक्, यजु आदि के नाम का व्यवहार सम्भव रहता है। अतः निष्कर्ष यह

१—जिस वेद मे ऋग्वेद के मन्त्रों का आधिक्य हो उसे 'ऋक् संहिता' कहते हैं।

२—जिस वेद में यजुर्वेद के मन्त्रों का आधिक्य हो उसे यजुःसंहिता कहते हैं।

३—जिस वेद में सामवेद के मन्त्रों का आधिक्य हो उसे 'सामसंहिता कहते हैं।

४—जिस वेद में अथर्ववेद के मन्त्रों का आधिक्य हो उसे 'अथर्वसंहिता' कहते हैं।

निकला कि मूलतः एक ही वेद के रचना भेद से त्रयीत्व होने पर भी होत्रादि कार्य के सौकर्यार्थ इसके ऋक्, यजु, साम और अथर्व, ये चार भेद किए गए हैं। अतएव महर्षि यास्क ने "चत्वारि शृङ्गा" (शु० य० १७।६१) इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए ""वेदा वा एत उक्ताः" (१३। १।७) यह स्पष्ट कहा है।

पूर्वोक्त 'ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्' (ऋ० १०।७१।११) इस श्रुति के अनुसार चार प्रकार के ऋत्विजों के बोध सिद्ध होने पर उन्हें यज्ञ कराने के लिए ही प्रजापति ब्रह्मा और भगवान् विष्णु व्यासदेव का रूप धारण कर प्रतियुग में वेद के चार विभाग करते हैं। इस विषय का उल्लेख पुराणों में यों लिखा है—

वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः।
ब्रह्मणो वचनात्तात लोकानां हितकाम्यया॥
तदिदं वर्तमानेन युष्माकं वेदकल्पनम्।
मन्वन्तरेण वक्ष्यामि व्यतीतानां प्रकल्पनम्॥ (वायुपुराण)
प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं तु वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ (शिवपुराण)
ऋचो बभूवुः प्रथमं प्रथमाद्वदनान्मुने।
जपापुष्पनिभाः सद्यस्तेजोरूपा ह्यसंहताः॥
पृथक्पृथक् विभिन्नाश्च रजोरूपवहारततः।
यजूंषि दक्षिणाद्वक्त्रादविरुद्धानि कानिचित्॥
यादृग्वर्णं तथा वर्णान्यसंहतिधराणि च।
पश्चिमं यद्विभोर्वक्त्रं ब्रह्मणः परमेष्ठिनः॥
आविर्भूतानि सामानि ततश्छन्दांसि नान्यथा।
आथर्वणमशेषं च भृङ्गाञ्जनचयप्रभम्॥
यावद्घोरस्वरूपं तदाभिचारिकशान्तिकम्।
उत्तरात्प्रकटीभूतं वदनात्तस्य वेधसः॥ (मार्कण्डेयपुराण)
अस्मिन्युगे कृते व्यासः पाराशर्यः परं तपः।
द्वैपायन इति ख्यातो विष्णोरंशः प्रकीर्तितः॥

अथ शिष्यान्स जग्राह चतुरो वेदकारणात् ।
ऋग्वेदं श्रावकं पैलं जग्राह विधिवद् द्विजम् ॥
यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च ।
जैमिनिं सामवेदार्थं श्रावकं सोन्वपद्यत ॥
तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम् ।
चतुर्होत्रमभूत्तस्मिन्तेन यज्ञमकल्पयत् ॥
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथैव च ।
उद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः ॥
ब्रह्मत्वमकरोद्यज्ञे वेदेनाथर्वणेन तु ।
राज्ञस्त्वथर्ववेदेन सर्वकर्माण्यकारयत् ॥ (वायुपुराण)
ततः स ऋचमुद्धृत्य ऋग्वेदं समकल्पयत् ।
होतृकं कल्पयेत्तेन यजुर्वेदं जगत्पतिः ॥
सामभिः सामवेदं च तेनौद्गात्रमकल्पयत् ।
राज्ञस्त्वथर्ववेदेन सर्वकर्माण्यकारयत् ॥
ब्रह्मत्वं कल्पयेद् ब्रह्मा वेदेनाथर्वणेन तु ॥ (ब्रह्माण्डपुराण)
चतुर्होत्रमभूत्तस्मिन्तेन यज्ञमथाकरोत् ।
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथा मुनिः ॥
औद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः !
राज्ञां चाथर्ववेदेन सर्वकर्माणि च प्रभुः ॥ (विष्णुपुराण)

इस प्रकार उपर्युक्त श्रौत-स्मार्तादि अनेक प्रमाणों से चारों वेदों का वेदत्व स्पष्ट सिद्ध हो जाता है ।

* वेद अपौरुषेय हैं

'वेद' पौरुषेय (मनुष्यकृत) हैं या अपौरुषेय यह विषय विचारणीय है ।

---

* हमारा यह लेख 'कल्याण' के तेरहवें वर्ष के सातवें अङ्क में विशदरूप से प्रकाशित हो चुका है ।

वेद को मनुष्यों ने बनाया है अथवा सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने बनाया है, अथवा आकाशकाल आदि की तरह संसार को अनादि मान कर अनादिकाल से चला आ रहा है, नित्य शब्दराशि है, किसी से रचित नहीं है। इस पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेद को आर्यावर्त्त के रहने वाले बड़े-बड़े विद्वान् प्राचीन महर्षियों ने बनाया है। उस समय उन्हें जिन-जिन देवताओं का स्मरण हुआ उन-उन देवताओं की स्तुति की और जिस-जिस प्रदेश में वे रहते थे वहाँ के पर्वत और नदियों की भी चर्चा उसमें की है। इससे यह सिद्ध होता है कि चार पाँच हजार वर्ष के पूर्व वेद नहीं थे और वेदों की रचना भी महर्षियों द्वारा तदनन्तर ही की गयी है, परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि पाश्चात्य विद्वानों का ही यह निर्णय है कि अब से दो हजार वर्ष पहले 'पतञ्जलि' हुए और उससे बहुत पहले 'काशकृत्स्नि' महर्षि हुए। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में 'काशकृत्स्नि' आचार्य का उल्लेख इस प्रकार किया है 'काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी' (पा० सू० ४।१।१)। और पाणिनि का समय ईसा के जन्म से सात सौ वर्ष पूर्व का था, यह भी उन्हीं का निर्णय है, ऐसी स्थिति में यदि इन महर्षियों के समय वेद की रचना हुई होती, तो उस समय के महर्षियों ने वेद के कर्ता को क्यों नहीं बताया ? हम अल्पबुद्धिजन भी जब पूर्वकालिक इतिहास का अन्वेषण कर सकते हैं, तो क्या कारण है कि महर्षियों को वेद के कर्ता का पता नहीं चला और उन्होंने 'वेद' को अपौरुषेय माना ? जैमिनि महर्षि ने—'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (१ १।२६) इस सूत्र की रचना की। इसका अभिप्राय यह है कि इस समय जो लोग वेद पढ़ते हैं, वे गुरुमुख से पढ़ते हैं और उन्होंने भी गुरुमुख से ही वेद पढ़ा था, इस प्रकार सदा से अध्ययन-परम्परा चली आ रही है।

वार्तिककार ने भी कहा है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।
वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं तथा ॥

'वेद का अध्ययन गुरुपरम्परा से है, पुस्तक देखकर नहीं है। इसके पूर्व ऐसा कोई समय नहीं था जिस समय वेद न हों या वेद का अध्ययन न हो।'

वेद का पठन-पाठन एक रूप से होता चला आ रहा है, उसमें भी एक मात्रा इधर-उधर नहीं होने पाती है। यही कारण है कि छोटे-छोटे स्तोत्रों में भी अनेक पाठभेद वर्तमान हैं, परन्तु वेदों में आज तक प्रायः एक भी पाठभेद नहीं देखा जाता है। चारों दिशाओं के वैदिक ब्राह्मणों को एकत्रित करके वेदपाठ कराने पर भी सबका उच्चारण, कण्ठस्वर, हस्त-स्वर आदि सब समानरूप से देखने में आता है। इस प्रकार ईश्वरतुल्य परमपूज्य रचित वेद का कर्ता यदि कोई होता, तो हम उसको कैसे भूल जाते या छोड़ देते! कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वस्तुतः वेद पौरुषेय है, परन्तु इन लोगों ने बुद्धिपूर्वक वेद के महत्त्व को बढ़ाने के लिए इसके कर्ता को छिपा दिया है। किन्तु उनका यह आक्षेप भी अनुचित है, क्योंकि महाभारत, रामायण, भागवत आदि को पुरुषकृत जानते हुए भी इनका अत्यन्त आदर करते हैं, तो हम इन महर्षियों के बनाये हुए वेद का आदर क्यों नहीं करते। ऐसा कौन धार्मिक पुरुष होगा जो इस प्रकार उन महर्षियों का और ऐसे ग्रन्थों का अनादर करे। अतः वेद का कर्ता नहीं है, किन्तु वेद अपौरुषेय हैं—यही निश्चय ठीक है।

कर्ता का उच्छेद वेद-अध्येतृ-पुरुषों के सर्वनाश से हो सकता है, यह भी सर्वथा असम्भव है, क्योंकि उसी आनुपूर्वी को और उसी अक्षरराशि को एक मात्रा, बिन्दु, अनुस्वार आदि को भी न छोड़ते हुए परम्परा से पढ़ते चले आ रहे हैं, परन्तु कर्ता को भूल गये, यह अत्यन्त आश्चर्य है। अतः सुप्तप्रबुद्ध न्याय से सर्वज्ञ ईश्वर कल्पान्तरीय वेद को इस कल्प में स्मरण करके उपदेश करते हैं, बनाते नहीं हैं—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।'
नित्या वेदाः समस्ताश्च शाश्वता विष्णुबुद्धिगाः।
सर्गे सर्गेऽमुनैवैते उद्गीर्यन्ते तथैव च॥

यही अभिप्राय नीचे लिखे मन्त्र में भी है—

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयञ्च जिन्व।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथेसु वीराः॥ (शु०य०३४|५८)

'हे अखिलब्रह्माण्डनायक! आप ही इस वेद के यन्ता, नियामक हैं, और अपने पुत्रों को इसका बोध कराते हैं, उपदेश करते हैं। देवता लोग भी अध्ययनादि द्वारा इसकी रक्षा करते हैं।'

रह गया यह कि वेद में राजाओं के तथा नदी, पर्वत आदि के नाम आते हैं वे तो नित्य वैदिक व्यवहार के और प्ररोचना के लिए हैं। वे नाम वेद में हैं, पवित्र हैं, ऐसा निश्चय कर परवर्ती पुरुषों ने अपने पुत्रादि के वे ही नाम रख लिए। सर्वप्रथम प्रजापति ने नामादि रक्खे, तत्पश्चात् और लोगों ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि इन नामवाले पुरुषों के बाद वेदों की रचना हुई।

विष्णुपुराण (५।६२) में लिखा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ देवादीनां चकार सः॥

देवता आदिकों के नामकरण वेद के शब्दों को देख कर ही रक्खे गये हैं। अतः वेद अपौरुषेय † हैं, यह सिद्धान्त सर्वथा मान्य और स्तुत्य है।

---

† सर्वतन्त्रस्वतन्त्र सर्वदर्शनव्याख्याकार श्रीमान् वाचस्पतिमिश्रजी ने भी सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण की "दृष्टवदानुश्रविकः" इस द्वितीय सांख्यकारिका की व्याख्या करते हुए 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' में इस प्रकार लिखा है कि 'गुरुपाठादनुश्रूयते इत्यनुश्रवो वेदः। एतदुक्तं भवति—श्रूयत एव परं न केनापि क्रियत इति।' अर्थात्—गुरुपाठ से केवल सुना जाता है न कि कोई उसे बनाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वेद अनादि तथा अपौरुषेय हैं।

वेद के ऋषि, छन्द देवता और विनियोग के ज्ञान की आवश्यकता

वेद का अध्ययनाध्यापन ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग के परिज्ञानपूर्वक होना चाहिये। जो लोग ऋष्यादि ज्ञान-सहित वेद का अध्ययनाध्यापन अथवा यजन-याजन करते हैं वे वेद के ठीक-ठीक फल-प्राप्ति के भाजन बनते हैं और जो लोग अज्ञानपूर्वक वेदाध्ययनादि करते हैं उनका अध्ययन सर्वथा निष्फल तथा पाप-युक्त होता है।

ऋष्यादि ज्ञान के बिना वेद के अध्ययनाध्यापनादि में श्रुति-स्मृति-कारों ने प्रत्यवाय कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तराश्वगर्तं वा पद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।' (शौनककृत अनुक्रमणी १।१)

'जो मनुष्य ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग के ज्ञान के बिना वेद का अध्ययन, अध्यापन, जप, हवन, यजन, याजनादि करते हैं उनका वेद फल-रहित तथा दोष-युक्त होता है और वे लोग मरने के बाद 'अश्वगर्त' नामक नरक में जाते हैं अथवा 'शुष्क-वृक्ष' अर्थात् स्थावर-योनि में प्राप्त होते हैं, अथवा यदि वे मनुष्य-योनि में उत्पन्न होते हैं, तो अल्पायु होकर स्वल्प दिनों में ही मृत्यु के मुख में पड़ जाते हैं अथवा पापात्मा होते हैं।

'यो ह वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतविनियोगेन ब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वा पद्यते, प्रमीयते वा पापीयान् भवति, यातयामान्यस्यच्छन्दांसि भवन्ति।'

(छा० ब्रा०, ३।७।५)

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥ (बृहद्देवता, ८।१३२)

अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेद्याजयेद्वा पापीयाञ्जायते तु सः॥ (यमस्मृति)

अन्यत्र भी लिखा है—

मन्त्राणां दैवतं छन्दो निरुक्तं ब्राह्मणान् ऋषीन्।
कृत्तद्धितादींश्चाज्ञात्वा यजन्तो यागकण्टकाः॥
अविदित्वा ऋषिच्छन्दो दैवतं योगमेव च।
योऽध्यापयेज्जपेद्वापि पापीयाञ्जायते तु सः॥
ऋषिच्छन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥

ऋष्यादि ज्ञान के सहित वेद के अध्ययनाध्यापनादि में अतिशय फल की प्राप्ति कही है—

'अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते।' (शौनककृत अनुक्रमणी, १।१)

'जो मनुष्य ऋष्यादि को जानकर वेदाध्ययनादि करते हैं उनका वेद फलप्रद (बलवान्) होता है। और जो ऋष्यादि ज्ञान के साथ वेद का अर्थ भी जानते हैं उनका वेद अत्यन्त फलप्रद होता है और वे लोग जप, हवन, यजन-याजनादि कर्म के द्वारा वेद के यथार्थ फल की प्राप्ति करते हैं।'

आर्षं छन्दश्च दैवत्यं विनियोगस्तथैव च।
वेदितव्यः प्रयत्नेन ब्राह्मणेन विशेषतः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)

(१) ऋषि—गत्यर्थक 'ऋष्' धातु से 'इगुपधात्कित्' (उणादिसूत्र) इस सूत्र से 'इन् प्रत्यय करने पर 'ऋषि' शब्द बनता है। महर्षि कात्यायन के 'द्रष्टार ऋषयः स्मर्त्तारः' (सर्वानुक्रमसूत्र) इस सूत्र के अनुसार मन्त्रों के द्रष्टा अथवा स्मर्ता 'ऋषि कहलाते हैं। इसी प्रकार औपमन्यवाचार्य ने भी 'निरुक्त' में ऋषि शब्द का निर्वचन किया है—

'होत्रमृषिर्निषीदन्नृषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद्यदेनां-

स्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयंभ्वभ्यानर्षत्त ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते' (नैगमकाण्ड, २।११)

'मन्त्र-समूह को देखने वाले अर्थात् साक्षात्कार करने वाले 'ऋषि' कहलाते हैं। हिरण्यगर्भादि ने सृष्टि के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत होकर पूर्व-कल्प में अनुभूत वेद-पदार्थों के कठिन तपस्या से संस्कार, सम्मान तथा स्मरण के द्वारा 'सुप्तप्रबुद्ध' न्याय से पूर्ववत् प्राप्त किया था। अतः वे वेद-मन्त्रों के ऋषि कहे जाते हैं।'

महर्षि याज्ञवल्क्य ने 'ऋषि' शब्द का अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' ही स्वीकार किया है—

> येन य ऋषिणा दृष्टो मन्त्रः सिद्धिश्च तेन वै।
> मन्त्रेण तस्य सम्प्रोक्त ऋषिभावस्तदात्मकः॥

'जो मन्त्र जिस ऋषि से देखा गया, उस ऋषि के स्मरणपूर्वक यज्ञादि में मन्त्र के प्रयोग करने से फल की प्राप्ति होती है।'

(२)—छन्द—आह्लादार्थक चौरादिक 'चदि' धातु से 'चन्देरादेश्च छः' (उणादिसूत्र) इस सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय करने पर तथा चकार को छकार का आदेश करने से 'छन्द' शब्द बनता है। अथवा छाद-नार्थक चौरादिक 'छद्' धातु से 'चन्देरादेश्च छः' (उणादिसूत्र) इस सूत्र से 'असुन्' प्रत्यय करके 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' (पा० सू० ६।३।१०९) इस सूत्र से 'नुम्' का आगम करने से 'छन्द' शब्द की निष्पत्ति होती है।

'छन्दयति आह्लादयति चन्द्यतेऽनेन वा छन्दः' अर्थात् जो मनुष्यों को प्रसन्न करे उसे 'छन्द' कहते हैं। अथवा 'छादयति मन्त्रप्रतिपाद्ययज्ञा-दीनिति छन्दः' अर्थात् जो यज्ञादि की असुरादि उपद्रवों से रक्षा करे उसे 'छन्दः' कहते हैं। इसी प्रकार महर्षि 'यास्क' ने भी निरुक्त में 'छन्द' शब्द का निर्वचन किया है—'छन्दांसि छादनात्' (दैवतकाण्ड, १।१२) जिससे यज्ञादि छादित अर्थात् सुरक्षित हों उसे 'छन्द' कहते हैं।

(३) देवता—क्रीडार्थक 'दिव' धातु से 'हलश्च' (पा० ३।३।१२१)

इस सूत्र से 'घञ्' प्रत्यय करने से 'देव' शब्द बनता है, पश्चात् 'बहुलं छन्दसि' (पा० वैदिक प्रकरण) इस सूत्र से स्वार्थ में 'तल्' प्रत्यय करके 'अजाद्यतष्टाप्' (पा० ४।१।४) इस सूत्र से 'टाप्' करने पर 'देवता' शब्द बनता है। निरुक्तकार के मत से देव और देवता का एक ही अर्थ होता है। जो स्वच्छन्द रूप से तीनों लोकों में विचरण करें या प्रकाशमान हों अथवा जो प्राणिमात्र को वृष्ट्यादि द्वारा अन्न-जलादि भक्ष्य-पदार्थों को प्रदान करें उन्हें 'देवता' कहते हैं। वेदों में इस प्रकार के तीन देवता ही माने गए हैं। इन तीनों देवताओं का 'निरुक्त' में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानो, वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो द्युस्थानः। तस्या महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।' (दैवतकाण्ड, ७।५)

१ पृथिवीस्थान अग्नि, २ अन्तरिक्षस्थान वायु अथवा इन्द्र और ३ द्युस्थान सूर्य, इन तीन देवताओं को ही वेद में निरुक्तकार ने स्वीकार किया है।

(४) विनियोग—जिस कार्य के लिए मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है उसे 'विनियोग' कहते हैं। इसका लक्षण महर्षि याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार किया है—

पुराकल्पे समुत्पन्ना मन्त्राः कर्मार्थमेव च।
अनेनेदन्तु कर्तव्यं विनियोगः स उच्यते॥

वैदिक-पद्धति में विनियोग ही सबसे अधिक प्रयोजक है, इसके बिना वैदिक-कर्मकाण्ड-पद्धति का निर्वाह ही नहीं हो सकता। मन्त्रों में मुख्य विनियोग ही है, जो कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के द्वारा यथासमय विनियुक्त हुआ था।

अतः प्रत्येक द्विज को ऋष्यादि के परिज्ञान की आवश्यकता समझ कर प्रयत्नपूर्वक मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग का परिज्ञान तत्तत् वेद के ब्राह्मण तथा कल्पसूत्र से करना चाहिए।

अन्तिम निवेदन

(१) हमने इस भूमिका में वेद का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह अपनी सम्पादित 'मन्त्रसंहिता' पुस्तक की १०० पृष्ठ वाली विशद भूमिका का केवल एक अंश है। जो लोग राष्ट्र भाषा हिंदी में वेद का विस्तृतरूप में परिचय प्राप्त करने के इच्छुक हों उन्हें उक्त पुस्तक प्रकाशक (व्यास पुस्तकालय, मानमन्दिर, काशी) महोदय के यहाँ से मँगानी चाहिए और जो लोग सरल संस्कृत भाषा में वेद का परिचय जानना चाहें, उन्हें हमारी लिखित '*वेद-विज्ञान-मीमांसा*' पुस्तक प्रकाशक (भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, काशी) महोदय के यहाँ से मँगवाकर पढ़नी चाहिए। उक्त दोनों ही पुस्तकें सर्वसाधारण के लिए विशेषतः वेद के परिशीलनकर्ताओं के लिए नोट-बुक की भाँति बहुत आवश्यक और उपादेय हैं।

(२) समय की न्यूनता तथा 'वैदिक-सूक्त-संग्रह' के प्रकाशन की शीघ्रता के कारण इस संस्करण में सूक्तों के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग का विशेष परिचय नहीं दिया जा सका। भगवत्कृपा हुई तो, द्वितीय संस्करण में समस्त विषयों का विस्तृत वर्णन किया जायगा।

(३) वैदिक-सूक्त-संग्रह के वरुणसूक्त, उषःसूक्त और विष्णुसूक्त-द्वय का संशोधन मैंने नहीं किया है। अतः इनमें जो त्रुटियाँ हों, उन्हें मेरी न समझें। भूल से जो त्रुटियाँ रह गयी हैं, वे द्वितीय संस्करण में दूर की जाँयगी।

(४) वैदिक-सूक्त-संग्रह के प्रकाशक श्रीयुत बाबू बैजनाथ प्रसाद-जी (अध्यक्ष—मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुकडिपो कचौड़ी गली, काशी) महोदय हमारे विशेष हितैषी हैं। इन्हीं के विशेष प्रेमाग्रह के कारण मैंने उक्त पुस्तक का सम्पादनादि कार्य किया है। काशिक राजकीय सर्वविध शास्त्री परीक्षा के प्रथम खण्ड के परीक्षार्थियों के लाभार्थ पुस्तक प्रकाशन के लिए प्रकाशक महोदय को

विशेष धन्यवाद देते हुए हम वैदिक-सूक्त-संग्रहान्तर्गत सूक्तों के द्रष्टा ऋषियों और वरुणादि देवताओं से हार्दिक प्रार्थना करते हैं कि वे अपने-अपने विशिष्ट आशीर्वाद प्रदान द्वारा प्रकाशक महोदय को धन धान्य एवं सन्तति आदि विविध विभूतियों से विभूषित कर उनके लिए सर्वदा सर्व प्रकार की शान्ति का साम्राज्य उपस्थित करें।

(४) मैं न तो लेखक हूँ, न उपदेशक हूँ और न किसी 'महान्' पद से विभूषित। मैं भारत प्रसिद्ध वेद-वेदाङ्ग के अद्वितीय विद्वान्, समस्त द्विज वेदज्ञों के तथा समस्त वेदाचार्य-परीक्षोत्तीर्ण वैदिक वर्ग के गुरु *स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० श्री विद्याधरजी शास्त्री गौड* का पुत्र होने के कारण वेदों के स्वाध्यायका व्यसनी अवश्य हूँ। यही कारण है कि यदा कदा वैदिक-साहित्य के सम्बन्ध में कुछ लिख दिया करता हूँ।

इसी दृष्टि से 'वैदिक-सूक्त-संग्रह' की भूमिका में भी वेद के सम्बन्ध में कुछ लिखा गया है। आशा है, इससे सर्वसाधारण का विशेषतः परीक्षार्थी वर्ग का अधिकाधिक लाभ होगा।

अध्यापक
गोयनका संस्कृत कालेज काशी।
पितृपक्षीय त्रयोदशी।
१० अक्टूबर, १९५०

वेद वेदाङ्गोपासक—
वेणीराम शर्मा गौड़
(वेदाचार्य)

* श्रीगणेशाय नमः *

अथ ऋग्वेदप्रथममण्डले

वरुणसूक्तम् * ।

[सायणभाष्य–मन्त्रप्रकाशिकाख्यटीकाद्वयोपेतम्]

—०—

(अपनी कर्त्तव्यत्रुटिकी पूर्तिके लिए शुनःशेपकी वरुणसे प्रार्थना—)

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् ।
मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

[पदानि] यत् । चित् । हि । ते । विशः । यथा । देव । वरुण । व्रतम् । मिनीमसि । द्यविऽद्यवि ॥ १ ॥

'यच्चित्' इति एकविंशत्यृचं द्वितीयं सूक्तम् । तथा चानुक्रान्तम्—'यच्चित्सैका' इति । 'ऋषिश्चान्यस्मात्' इति परिभाषया शुनःशेप एव ऋषिः । "आदौ गायत्रम्" इति परिभाषितत्वात् गायत्री च्छन्दः । 'वारुणं तु' इति पूर्वोक्तत्वात् तुह्यादिपरिभाषया (अनु० १२।३) वरुणो देवता। विनियोग उक्तः शौनःशेपाख्याने । विशेषविनियोगस्तु—'अभिप्लवपृष्ठ्याहानि' इति खण्डे तथैव सूत्रितं—'यच्चिद्धि ते विश इति वारुणमेतस्य तृचमावपेत मैत्रावरुणः' (आश्व० श्रौ० ७।५) इति ॥

सा० भा०—हे वरुण देव ! *यथा* लोके *विशः* प्रजाः कदाचित् प्रमादं कुर्वन्ति तथा वयमपि *ते* तव सम्बन्धि *यच्चिद्धि* यदेव किञ्चित् *व्रतं* कर्म

---

* यच्चिदित्येकविंशत्यृचस्य सूक्तस्य शुनःशेपऋषिर्गायत्रीच्छन्दो वरुणो देवता शौनःशेपाख्याने विनियोगः ।

द्यविद्यवि प्रतिदिनं *प्र मिनीमसि* प्रमादेन हिंसितवन्तः। तदपि व्रतं प्रमाद-परिहारेण साङ्गं कुरु इति शेषः ॥

यथा। लित्स्वरेण आद्युदात्तत्वे प्राप्ते 'यथेति पादान्ते' (फि० सू० ८५) इति सर्वानुदात्तत्वम्। मिनीमसि। 'मीञ् हिंसायाम्'। 'इदन्तो मसि'। 'क्र्यादिभ्यः श्ना'। 'मीनातेर्निगमे' (पा० सू० ७।३।८१) इति ह्रस्वत्वम्। 'ई हल्यघोः' (पा० सू० ६।४।११३) इति ईकारः। 'सतिशिष्टस्वरबली-यस्त्वमन्यत्र विकरणेभ्यः' इति वचनात् तिङ एव स्वरः शिष्यते। यद्वृत्त-योगात् निघाताभावः ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण देव ! जिस प्रकार इस संसार में प्रजागण आलस्य के वश में होकर अपने धर्म को नहीं करते हैं, उसी प्रकार हम भी प्रतिदिन जाड्यजन्य प्रमाद के वश में होकर जो कुछ आराधन-रूप कर्म नहीं कर सके आप उस प्रमादरूप कर्म को परिहारपूर्वक साङ्ग अर्थात् पूर्ण कीजिए ॥ १ ॥

(शुनःशेप की अपने बचाव के लिए प्रार्थना—)

मा नो वधाय हत्नवे जिहीडानस्य रीरधः।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥ २ ॥

[पदानि] मा। नः। वधाय। हत्नवे। जिहीडानस्य। रीरधः। मा। हृणानस्य। मन्यवे ॥ २ ॥

सा० भा०—हे वरुण ! *जिहीडानस्य* अनादरं कृतवतः *हत्नवे* हन्तुः पापि-हननशीलस्य तव सम्बन्धिने त्वत्कर्तृकाय *वधाय नः* अस्मान् *मा रीरधः* संसिद्धान् विषयभूतान् *मा* कुरु। *हृणानस्य* हृणीयमानस्य क्रुद्धस्य तव *मन्यवे* क्रोधाय मा अस्मान् रीरधः। वधाय। 'हनश्च वधः' (पा० सू० ३।३।७६) इति अबन्तो वधशब्दः। उञ्छादिषु पाठाद-न्तोदात्तः। हत्नवे। 'हन् हिंसागत्योः'। 'कृहनिभ्यां क्त्नुः' (उ० सू० ३१०) इति क्त्नुप्रत्ययः, धातोर्नकारस्य तकारः। जिहीडानस्य। 'हेडृ अनादरे' अस्मात् लिटः कानच्। द्विर्भावहलादिशेषह्रस्वचुत्वज-स्त्वानि। एकारस्य ईकारादेशश्छान्दसः। 'चितः' इत्यन्तोदात्तत्वम्। रीरधः

'राध साध संसिद्धौ'। चङि एलोपे उपधाह्रस्वत्वम्। द्विर्वचनहलादिशेष-ह्रस्वत्वसन्वद्भावेत्वाभ्यासदीर्घाः। 'न माङ्योगे' इति अडभावः। हृणा-नस्य। 'हृणीङ् लज्जायाम्'। अस्मात् शानचि पृषोदरादित्वात् अभिमत-रूपसिद्धिः॥ २॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण! आप पापियों का अनादर एवं वध करनेवाले हैं। किन्तु आप हमें वध के योग्य न बनाइये अर्थात् हमारा बध न कीजिए। इसी प्रकार क्रोधयुक्त आप हमें अपना क्रोध-भाजन न बनाइये अर्थात् हम पर क्रोध न कीजिए॥ २॥

(*अपने सुखके लिए स्तुति करना—*)

वि मृडीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्।
गीर्भिर्वरुण सीमहि॥ ३॥

[*पदानि*] वि। मृडीकाय। ते। मनः। रथीः। अश्वम्। न। सम्ऽदितम्। गीःऽभिः। वरुण। सीमहि॥ ३॥

सा० भा०—हे *वरुण! मृडीकाय* अस्मत्सुखाय *ते* तव *मनः गीर्भिः* स्तुतिभिः *वि सीमहि* विशेषेण बध्नीमः प्रसादयामः इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। *रथीः* रथ-स्वामी *संदितं* सम्यक् खण्डितम् दूरगमनेन श्रान्तम् *अश्वं न* अश्वमिव। यथा स्वामी श्रान्तमश्वं घासप्रदानादिना प्रसादयति तद्वत्। रथीः। मत्व-र्थीय ईकारः। संदितम्। 'दो अवखण्डने'। 'निष्ठा' इति क्तः। 'द्यतिस्यति मास्थाम्' (पा० सू० ७।४।४०) इति इकारान्तादेशः। 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम्। गीर्भिः। 'सावेकाचः' इति भिस उदात्तत्वम्। सीमहि। 'षिवु तन्तुसंताने'। व्यत्ययेनात्मनेपदम्। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। 'वलि लोपः' (पा० सू० ६।१।६६)। यद्वा 'षिञ् बन्धने' इत्यस्माद् विकरणस्य लुक्। दीर्घश्छान्दसः॥ ३॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण! जिस प्रकार रथ का स्वामी दूर जाने के कारण थके घोड़ों को घास, जल आदि देकर प्रसन्न करता है उसी प्रकार हम अपने सुख के लिए आपके मन को स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करते हैं॥ ३॥

(अनन्यशरणताका ज्ञापन—)

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये ।
वयो न वसतीरुप ॥ ४ ॥

[पदानि] परा । हि । मे । विऽमन्यवः । पतन्ति । वस्यःऽइष्टये । वयः । न । वसतीः । उप ॥ ४ ॥

सा० भा०—हे वरुण ! मे मम शुनःशेपस्य *विमन्यवः* क्रोधरहिता बुद्धयः वस्यइष्टये वसीयसः अतिशयेन वसुमतो जीवनस्य प्राप्तये *परापतन्ति* पराङ्मुखाः पुनरावृत्तिरहिताः प्रसरन्ति । *हि*शब्दः अस्मिन्नर्थे सर्वजनप्रसिद्धिमाह । परापतने दृष्टान्तः । *वयो न* । पक्षिणो यथा *वसतीः* निवासस्थानानि *उप* सामीप्येन प्राप्नुवन्ति तद्वत् ॥ पतन्ति । पादादित्वान्निघाताभावः । वस्यइष्टये वसुमच्छब्दात् 'विन्मतोर्लुक्' इति मतुपो लुकि टिलोपे ईयसुनो यकारलोपश्छान्दसः । वसतीः । 'शतुरनुमः' इति ङीप उदात्तत्वम् ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—हे वरुण ! मेरी (शुनःशेप की) क्रोधरहित शान्त बुद्धि मूल्यवान् जीवन को प्राप्त करने के लिए अनावृत्ति भाव से आप में उस प्रकार लगी रहती है जिस प्रकार पक्षी दिन भर भटक कर सायंकाल अपने निवासस्थान (घोसले) को प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

(वरुणके साक्षात्कारके लिए उत्कट उत्कण्ठाका प्रदर्शन—)

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे ।
मृडीकायोरुचक्षसम् ॥ ५ ॥

[पदानि] कदा । क्षत्रऽश्रियम् । नरम् । आ । वरुणम् । करामहे । मृडीकाय । उरुऽचक्षसम् ॥ ५ ॥

सा० भा०—*मृडीकाय* अस्मत्सुखाय *वरुणं कदा* कस्मिन् काले *आ करामहे* अस्मिन् कर्मणि आगतं करवाम । कीदृशम् । *क्षत्रश्रियं* बलसेविनं *नरं* नेतारम् *उरुचक्षसं* बहूनां द्रष्टारम् । क्षत्रश्रियम् । क्षत्राणि श्रयतीति क्षत्रश्रीः । 'क्विब्वचि' (पा० ३।२।१७८।२) इत्यादिना क्विप्

दीर्घश्च। कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्। नरम् 'ऋदोरप्' इति अबन्तः आद्युदात्तः। करामहे। करोतेः व्यत्ययेन शप्। उरुचक्षसम्। 'चक्षेर्बहुलं शिच्च' (उ० सू० ४।६७२) इत्यसुन्। शिद्भावात् ख्याञादेशाभावः ॥५॥

मन्त्रार्थ—अपने सच्चे सुख को प्राप्त करने के लिए हम कब अति बलवान् समस्त प्राणियों के नेता एवं सर्वद्रष्टा वरुण का आराधन कर्म में साक्षात्कार कर सकेंगे? ॥ ५ ॥

(वरुणकी महिमाका वर्णन—)

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः।

धृतव्रताय दाशुषे ॥ ६ ॥

[पदानि] तत्। इत्। समानम्। आशाते। इति। वेनन्ता। न प्र युच्छतः। धृतऽव्रताय। दाशुषे ॥ ६ ॥

सा० भा०—*धृतव्रताय* अनुष्ठितकर्मणे *दाशुषे* हविर्दत्तवते यजमानाय *वेनन्तौ* कामयमानौ मित्रावरुणाविति शेषः। तावुभौ *समानं* साधारणं *तदित्* अस्माभिर्दत्तं तदेव हविः *आशाते* अश्नुवाते। *न प्र युच्छतः* कदाचिदपि प्रमादं न कुरुतः। आशाते। अश्नोतेर्लिटि द्विर्भावहलादिशेषौ। 'अत आदेः' (पा० सू० ७।४।७०) इति आत्वम्। 'अनित्यमागमशासनम्' इति वचनात् 'अश्नोतेश्च' (पा० सू० ७।४।७२) इति नुडभावः। वेनन्ता। वेनतिः कान्तिकर्मा। 'सुपां सुलुक्' इति आकारः। प्रयुच्छतः। 'युच्छ प्रमादे'। दाशुषे। 'दाशृ दाने' इत्यस्मात् 'दाश्वान् साह्वान्' इति क्वसुप्रत्ययो निपातितः। 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणम्।' शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—जिसने वरुणाराधन कर्म को सम्पादन किया है तथा हवि प्रदान किया है, ऐसे यजमान को चाहनेवाले मित्रावरुण देव हम ऋत्विजों से दिये हुए साधारण हवि को भक्षण करते हैं ॥६॥

(पाश मोचनकी माँग—७-११)

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।

वेद नावः समुद्रियः ॥ ७ ॥

[पदानि] वेद । यः । वीनाम् । पदम् । अन्तरिक्षेण । पतताम् । वेद । नावः । समुद्रियः ॥ ७ ॥

सा० भा०—अन्तरिक्षेण पतताम् आकाशमार्गेण गच्छतां *वीनां* पक्षिणां *पदं यः* वरुणः *वेद* । तथा *समुद्रियः* समुद्रेऽवस्थितः वरुणः *नावः* जले गच्छन्त्याः पदं वेद जानाति सोऽस्मान् बन्धनान्मोचयत्विति शेषः वेद । 'विद ज्ञाने'। 'विदो लटो वा' (पा० सू० ३।४।८३) इति तिपो णल् । लित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति संहितायाम् दीर्घः । वीनाम् । 'नामन्यतरस्याम्' इति नाम उदात्तत्वम् । पतताम् । शपः पित्वादनुदात्तत्वम् । शतुश्च लसार्वधातुकस्वरेण धातुस्वरः । नावः । सावेकाचः । इति षष्ठ्या उदात्तत्वम् । समुद्रियः । 'भवार्थे समुद्राभ्राद्घः' (पा० सू० ४।४।११८) इति घप्रत्ययः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वव्यापी एवं सर्वज्ञ होने के कारण जो वरुण आकाश मार्ग से जाते हुए पक्षियों के आधारस्थान को तथा जल में चलने वाली नौकाओं के आधारस्थान को जानते हैं, वह वरुण हमें मृत्युरूपी पाप-बन्धन से मुक्त करें ॥ ७ ॥

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः ।
वेदा य उपजायते ॥ ८ ॥

[पदानि] वेद । मासः । धृतऽव्रतः । द्वादश । प्रजाऽवतः । वेद । यः । उपऽजायते ॥ ८ ॥

सा० भा०—धृतव्रतः स्वीकृतकर्मविशेषो यथोक्तमहिमोपेतो वरुणः *प्रजावतः* तदा तदोत्पद्यमानप्रजायुक्तान् *द्वादश मासः* चैत्रादीन् फाल्गुनान्तान् *वेद* जानाति । *यः* त्रयोदशोऽधिकमासः *उपजायते* संवत्सरसमीपे स्वयमेवोत्पद्यते तमपि वेद । वाक्यशेषः पूर्ववत् । मासः । 'पद्दन्०' (पा० सू० ६।१।६३) इत्यादिना मासशब्दस्य मास् इति आदेशः । 'ऊडिदम्' इत्यादिना शस उदात्तत्वम् । द्वादश । द्वौ च दश च इति द्वन्द्वः 'द्व्यष्टनः संख्यायाम्' (पा० सू० ६।३।४७) इति आत्वम् । 'संख्या' (पा० सू०

६।२।३५) इति सूत्रेण पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । प्रजावतः । जनी प्रादुर्भावे । प्रपूर्वात् जनसनखनक्रमगमो विटप्रत्ययः (पा० सू० ३।२।६७) । 'विड्वनोः' (पा० सू० ६।४।४१) इति आत्वम् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् । प्रजा एषां सन्तीति 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (पा० सू० ५।२।९४ ।) 'मादुपधायाः' (पा० सू० ८।२।९) इति मतुपो वत्वम् । उपजायते । जनेः कर्मकर्तरि लट् । 'कर्मवद्भावाद् आत्मनेपदं यक्' (पा०सू० ३।१।८७) 'जनादीनामुपदेश एवात्वं वक्तव्यम्' (पा० सू० ६।१।१६५।३) इति वचनात् । 'अचः कर्तृयकि' (पा० सू० ६।१।१६५) इत्याद्युदात्तत्वम् । 'तिङ्चोदात्तवति' (पा० सू० ८।१।७१) इति उपसर्गस्य निघातः, न च 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः । 'यद्वृत्तान्नित्यम्' इति प्रतिषेधात् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जिनने जगत् की उत्पत्ति, रक्षा एवं विनाश आदि कार्यों को स्वीकार किया है वे सर्वज्ञ वरुण क्षण-क्षण में उत्पद्यमान प्राणियों के सहित चैत्रादि से फाल्गुन पर्यन्त बारह मासोंको एवं संवत्सर के समीप उत्पन्न होनेवाला तेरहवाँ जो अधिकमास है, उसको भी जानते हैं । वह वरुण हमें मृत्युरूपी पाशबन्धन से मुक्त करें ॥ ८ ॥

वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः ।
वेदा ये अध्यासते ॥ ९ ॥

[पदानि]—वेद । वातस्य । वर्तनिम् । उरोः । ऋष्वस्य । बृहतः । वेद । ये । अधिऽआसते ॥ ९ ॥

सा० भा—*उरोः* विस्तीर्णस्य *ऋष्वस्य* दर्शनीयस्य *बृहतः* गुणैरधिकस्य *वातस्य* वायोः *वर्तनिं* मार्गं *वेद* वरुणो जानाति । *ये* देवाः *अध्यासते* उपरि तिष्ठन्ति तानपि *वेद* जानाति । वातस्य । 'असिहसि' इत्यादिना तन्प्रत्यान्तो वातशब्दो नित्त्वादाद्युदात्तः । वर्तनिम् । वर्ततेऽनेनेति । 'वर्तनिः स्तोत्रे' (पा० सू० ६।१।१६० ग) इति स्तोत्रवाचकस्य वर्तनिशब्दस्य अन्तोदात्तत्वसिद्ध्यर्थम् उञ्छादिषु पाठात् अस्य प्रत्ययस्वरेण मध्योदा-

त्तत्वे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तत्वम्। बृहतः। 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' इति ङस उदात्तत्वम्। अध्यासते। लसार्वधातुकानुदात्तत्वे सति धातुस्वरः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—जो वरुणदेव विशाल, शोभन और महान् वायु का भी मार्ग जानते हैं और ऊपर निवास करनेवाले देवताओं को भी जानते हैं वह वरुणदेव हमें मृत्युरूपी पाशबन्धन से मुक्त करें ॥ ९ ॥

नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्या स्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ १० ॥

[पदानि]—नि। ससाद। धृतऽव्रतः। वरुणः। पस्त्यासु। आ। साम्ऽराज्याय। सुऽक्रतुः ॥ १० ॥

सा० भा०—धृतव्रतः पूर्वोक्तः *वरुणः पस्त्यासु* दैवीषु प्रजासु *आ नि षसाद* आगत्य निषण्णवान्। किमर्थम्। प्रजानां साम्राज्यसिद्ध्यर्थं सुक्रतुः शोभनकर्मा। नि षसाद।' सदिरप्रतेः, (पा० सू० ८।३।६६) इति षत्वम्। *साम्राज्याय*। सम्राजो भावः साम्राज्यम्। 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' (पा० सू० ५।१।१२४) इति ष्यञ्। 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इति इत्याद्युदात्तत्वम्। सुक्रतुः। क्रत्वादयश्च' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जिनने प्रजापालनादि कार्यों का नियम स्वीकार किया है तथा जो प्रजाहितकर्ता वरुण हैं, जो सूर्य, चन्द्र आदि दैवी प्रजाओं में साम्राज्य सिद्धि के लिए उनके पास बैठे हुए हैं, वह वरुण हमें मृत्युरूपी पाशबन्धन से मुक्त करें ॥ १० ॥

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा ॥ ११ ॥

[पदानि]—अतः। विश्वानि। अद्भुता। चिकित्वान्। अभि। पश्यति। कृतानि। या। च। कर्त्वा ॥ ११ ॥

सा० भा०—अतः अस्मात् वरुणात् *विश्वानि अद्भुता* सर्वाण्याश्चर्याणि

चिकित्वान् प्रज्ञावान् *अभिपश्यति* सर्वतोऽवलोकयति *या कृतानि* यान्याश्चर्याणि पूर्वं वरुणेन सम्पादितानि । चकारात् अन्यानि यान्याश्चर्याणि *कर्त्वा* इतः परं कर्तव्यानि तानि सर्वाण्यभिपश्यतीति पूर्वत्रान्वयः । अद्भुता । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।१।७०) इति शेर्लोपः । प्रत्ययलक्षणेन 'नपुंसकस्य झलचः' (पा० सू० ७।१।७२) इति नुम् । नलोपः । चिकित्वान् । 'कित ज्ञाने' । लिटः क्वसुः । अभ्यासहलादिशेषचुत्वानि 'वस्वेकाजाद्घसाम्' इति नियमात् इडभावः । रुत्वानुनासिकावुक्तौ संहितायाम् । पश्यति । 'पाघ्रा०' इत्यादिना दृशेः पश्यादेशः । कर्त्वा । 'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (पा० सू० ३।४।१४) इति करोतेः त्वन् । नित्वादाद्युदात्तत्वम् । पूर्ववत् शेर्लोपः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—जिन जगदुत्पत्त्यादि आश्चर्यों को प्रथम वरुण ने किया है तथा अन्य जो आश्चर्य कार्य उनके द्वारा किये जायँगे, उन सभी अद्भुत कार्यों को ज्ञानवान् पुरुष जानते हैं । वही अद्भुत कार्यकर्ता वरुण हमें मृत्युरूपी पाशबन्धन से मुक्त करें ॥ ११ ॥

(सत्पथपर अग्रसर करनेकी एवं आयुकी माँग—)

सनो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् ।

प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ १२ ॥

[पदानि]—सः । नः । विश्वाहा । सुऽक्रतुः । आदित्यः । सुऽपथा । करत् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥ १२ ॥

सा० भा०—सुक्रतुः शोभनप्रज्ञः सः आदित्यः वरुण *विश्वाहा* सर्वेष्वहस्सु नः अस्मान् *सुपथा* शोभनमार्गेण सहितान् करत् करोतु । किंच नः अस्माकम् *आयूंषि प्र तारिषत्* प्रवर्धयतु । सुपथा । 'स्वती पूजायाम्' (पा० म० २।२।१८।४) इति समासे 'न पूजनात्' (पा० सू० ५।४।६९) इति समासान्तप्रतिषेधः । अव्ययपूर्वपद प्रकृतिस्वरे प्राप्ते 'परादिश्छन्दसि बहुलम्' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम् । 'क्त्वादयश्च' (पा० सू० ६।२।११८) इत्येतन्न भवति अबहुव्रीहित्वात् । बहुव्रीहौ हि तद्विधीयते । आद्युदात्तं 'द्व्यच्छन्दसि' (पा० सू० ६।२।११९)

इत्येतदपि न भवति, पथिन्, शब्दस्य अन्तोदात्तत्वात्। करत्। करोतेर्लेटि व्यत्ययेन शप्। शपो लुकि। 'लेटोडाटौ' इति अडागमः। 'इतश्च लोपः' इति इकारलोपः। यद्वा। छान्दसे लुङि 'कृमृदृरुहिभ्यः' (पा० सू० ३।१।५९) इति च्लेः अङ्। 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० सू० ७।४।१६) इति गुणः। बहुलं छंदस्यमाङ्योगेऽपि' इति अडभावः। प्र णः। 'उपसर्गाद्बहुलम्' (पा० सू० ८।४।२८) इति नसो णत्वम्। तारिषत्। तारयतेः लेटि अडागमः। 'सिब्बहुलम् लेटि' इति सिप्। 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—प्रजापालनादि शोभन कार्यों को करनेवाले आदित्यरूपी वरुण सर्वदा हमें सन्मार्ग में चलावें तथा हमारी आयु को बढ़ावें॥ १२॥

(*वरुणकी आदित्यरूपमें स्तुति—*)

बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्।
परि स्पशो नि षेदिरे॥ १३॥

[पदानि]—बिभ्रत्। द्रापिम्। हिरण्ययम्। वरुणः। वस्त। निःऽनिजम्। परि। स्पशः। नि। सेदिरे॥ १३॥

सा० भा०—हिरण्ययं सुवर्णमयं *द्रापिं* कवचं *बिभ्रत्* धारयन् *वरुणः* *निर्णिजम्* पुष्टं स्वशरीरम् *वस्त* आच्छादयति। *स्पशः* हिरण्यस्पर्शिनो रश्मयः *परि नि षेदिरे* सर्वतो निषण्णाः। बिभ्रत् बिभर्तेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः (पा० सू० ७।१।७८) इति नुमभावः। 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। द्रापिम्। 'द्रा कुत्सायां गतौ'। द्रापयति इषून्, कुत्सितां गतिं प्रापयति इति द्रापिः कवचम्। 'अर्तिह्री०' (पा० सू० ७।३।३६) इत्यादिना पुगागमः। औणादिके इप्रत्यये णिलोपः। हिरण्ययम्। 'ऋत्व्यवास्तव्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि' (पा० सू० ६।४।१७५) इति हिरण्यशब्दात् विकारार्थे विहितस्य मयटो मशब्दलोपो निपातितः। वस्त। 'वस आच्छादने' लङि अदादित्वात् शपो लुक्। पूर्ववत्

अडभावः। निर्णिजम्। 'णिजिर शौचपोषणयोः'। स्पशः। 'स्पश बाधनस्पर्शनयोः।' 'क्विप् च' इति क्विप्। नि षेदिरे। 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु'। अस्मात् गत्यर्थात् कर्मणि लिटि एत्वाभ्यासलोपौ। 'सदिरप्रतेः' इति षत्वम्॥ १३॥

मन्त्रार्थ—सुवर्णमय कवच को धारण करनेवाले आदित्यरूपी वरुण अपने पुष्ट शरीर को रश्मि-समुदाय से ढक कर रखते हैं। सम्पूर्ण जगत् को स्पर्श करनेवाली उनकी किरणें सुवर्ण आदि समस्त पदार्थों में व्याप्त रहती हैं॥ १३॥

(*वरुणकी ईश्वर रूपमें स्तुति—*)

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम्।
न देवमभिमातयः॥ १४॥

[पदानि]—न। यम्। दिप्सन्ति। दिप्सवः। न। द्रुह्वाणः। जनानाम्। न। देवम्। अभिऽमातयः॥ १४॥

सा० भा०—दिप्सवः हिंसितुमिच्छन्तो वैरिणः *यं* वरुणं *न दिप्सन्ति* भीताः सन्तो हिंसतुमिच्छां परित्यजन्ति। *जनानां* प्राणिनां *द्रुह्वाणः* द्रोग्धारोऽपि यं वरुणं प्रति न द्रुह्यन्ति। *अभिमातयः* पाप्मानः। 'पाप्मा वा अभिमातिः' (तै० सं० २।१।३।५) इति श्रुत्यन्तरात्। देवं तं वरुणं न स्पृशन्ति। दिप्सन्ति 'दम्भु दम्भे'! अस्मात् सनि 'सनीवन्तर्ध०' (पा० सू० ७।२।४९) इत्यादिना इडभावः। 'हलन्ताच्च' (पा० सू० १।२।१०) इत्यत्र हलग्रहणस्य जातिवाचित्वात् सनः कित्त्वात् 'दम्भ इच्च' (पा० सू० ७।४।५६) इति दकारात् परस्य अकारस्य इकारः। 'अनिदिताम्' इति न लोपः। भष्भावाभावश्छान्दसः (पा० सू० ८।२।३७)। 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (पा० स० ७।४।५८) इति अभ्यासलोपः। शपः पित्त्वादनुदात्तत्वम्। तिङश्च लसार्वधातुकस्वरेण सनो नित्त्वात् नित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम्। यद्वृत्तयोगात् अनिघातः। दिप्सवः। सनन्तात् दम्भेः 'सनाशंसभिक्ष उः' (पा० सू० ३।२।१६८) इति उप्रत्ययः। प्रत्यय-

स्वरः । द्रुह्वाणः द्रुह जिघांसायाम्' । 'अन्येभ्योपि दृश्यन्ते' इति क्वनिप् । प्रत्ययस्य पित्त्वादनुदात्तत्वे धातुस्वरेणाद्युदात्तत्वम् ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वदा प्राणियों की हिंसा करने के इच्छुक क्रूर जन्तु भी भयभीत होकर वरुण के प्रति हिंसा की इच्छा छोड़ देते हैं। प्राणियों से अकारण द्वेष करनेवाले सिंह, व्याघ्र आदि भी वरुण के प्रति द्रोहभाव छोड़ देते हैं। वरुण में ईश्वरत्व होने के कारण पुण्य एवं पाप भी उन्हें स्पर्श नहीं करते हैं॥ १४ ॥

(वरुणकी भक्तवत्सलता—)

उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या ।
अस्माकमुदरेष्वा ॥ १५ ॥

[पदानि] उत । यः । मानुषेषु । आ । यशः । चक्रे । असामि । आ । अस्माकम् । उदरेषु । आ ॥ १५ ॥

सा० भा०—*उत* अपि च *यः* वरुणः *मानुषेषु यशः* अन्नम् *आ* चक्रे सर्वतः कृतवान्। स वरुणः कुर्वन्नपि आ सर्वतः असामि सम्पूर्णं चक्रे न तु न्यूनं कृतवान्। विशेषतः *अस्माकम् उदरेषु आ* सर्वतः चक्रे। मानुषेषु। 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' (पा० सू० ४।१।१६१) इति अञ्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तत्वम्। चक्र। प्रत्ययस्वरः। *असामि*। 'अव्यये नञ्कुनिपातानामिति वक्तव्यम्' (पा० सू० ६।२।२-३) इति अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। यशः। 'अशेर्युट् च' (उ० सू० ४।६३०) इति असुन्। उदरेषु। 'उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च (उ० सू० ५-६९७) इति अल्। लित्स्वरः। 'गतिकारकोपपदात्' इत्युत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—जिन वरुणने वृष्टि द्वारा मनुष्यों के जीवनार्थ नाना प्रकार के अन्नों को पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न किया है, उन्हीं वरुण ने विशेषकर हम वरुणोपासक जनों की उदरपूर्ति के लिये पर्याप्त रूप में अन्न उत्पन्न किया है॥ १५ ॥

(*शुनःशेपकी अनन्यशरणागति—*)

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु ।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥ १६ ॥

[पदानि]—परा । मे । यन्ति । धीतयः । गावः । न । गव्यूतीः । अनु । इच्छन्तीः । उरुऽचक्षसम् ॥ १६ ॥

सा०भा०–*उरुचक्षसं* बहुभिर्द्रष्टव्यं वरुणं *इच्छन्तीः मे धीतयः* शुनःशेपस्य बुद्धयः *परा यन्ति* पराङ्मुखा निवृत्तिरहिता गच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तः । *गावो न* । यथा गावः *गव्यूतीरनु* गोष्ठानि अनुलक्ष्य गच्छन्ति तद्वत् । गव्यूतीः । गावोऽत्र यूयन्ते इति अधिकरणे क्तिन् । 'गोर्यूतौ छन्दसि' (पा० सू० ६।१।७६।२) इति अवादेशः । दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । यद्वा । यूतिः यवनम् । गवां यवनमत्रेति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । इच्छन्तीः । 'इषु इच्छायाम्' । लटः शतृ । तुदादिभ्यः शः' । 'इषुगमियमां छः' (पा० सू० ७।३।७७) इति छत्वम् । अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे विकरणस्वरः शिष्यते ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ—जिस प्रकार गौवें अपने गोष्ठ (गोशाला) में पहुँच जाती हैं और दिन रात भी वहाँ से टलती नहीं, उसी प्रकार पुण्यात्मा लोगों के दर्शनीय वरुणदेव (परमेश्वर) को चाहती हुई हमारी (शुनःशेष की) बुद्धिवृत्तियाँ निवृत्ति से रहित होकर वरुण में लग रही हैं ॥ १६ ॥

(*परस्पर भावनाका प्रदर्शन—*)

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम् ।
होतेव क्षदसे प्रियम् ॥ १७ ॥

[पदानि]—सम् । नु । वोचावहै । पुनः । यतः । मे । मधु । आऽभृतम् । होताऽइव । क्षदसे । प्रियम् ॥ १७ ॥

सा० भा०—*यतः* यस्मात् कारणात् *मे* मज्जीवनार्थं *मधु* मधुरं हविः

आभृतं अञ्जःसवाख्ये कर्मणि संपादितम्, अतः कारणात् होतेव होमकर्तेव त्वमपि *प्रियं* हविः *त्वदसे* अश्नासि । पुनः हविः स्वीकारादूर्ध्वं तृप्तस्त्वं जीवन्नहं च नु अवश्यं *सं वोचावहै* संभूय प्रियवार्त्तां करवावहै । वोचावहै । लोडर्थे छान्दसे लुङि ब्रुवो वचिः । 'अस्यतिवक्ति' इति च्लेः अङादेशः । 'वच उम्' इति उमागमे गुणः । व्यत्ययेन टेः ऐत्वम् । यद्वा । लोट एव लुङादेशः । स्थानिवद्भावात् ऐत्वम् । आभृतम् । 'हृग्रहोर्भः' । 'गतिरनन्तरः' गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ—हे वरुण ! मेरे जीवन रक्षार्थ दुग्ध, घृतादि मधुर हवि '*अञ्जःसव*' नामक यज्ञ में सम्पादित किया गया है, अतः हवनकर्ता जिस प्रकार हवन के बाद मधुर दुग्धादि पदार्थों का भक्षण करता है उसी प्रकार, आप भी घृतादि प्रिय हवि भक्षण करते हैं । हवि के स्वीकार से तृप्त आप और जीवित मैं—दोनों एकत्रित होकर प्रिय वार्तालाप करें ॥ १७ ॥

(शुनःशेपको आशाकी झलक मिलना—)

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि ।
एता जुषत मे गिरः ॥ १८ ॥

[पदानि] दर्शम् । नु । विश्वऽदर्शतम् । दर्शम् । रथम् । अधि । क्षमि । एताः । जुषत । मे । गिरः ॥ १८ ॥

सा० भा०—*विश्वदर्शतं* सर्वैर्दर्शनीयम् अस्मदनुग्रहार्थमत्राविर्भूतं वरुणं *दर्शं नु* अहं दृष्टवान् खलु । *क्षमि* क्षमायां भूमौ *रथं* वरुणसम्बन्धिनम् *अधि दर्शम्* आधिक्येन दृष्टवानस्मि । *एता* उच्यमाना *मे गिरो* मदीयाः स्तुतिः *जुषत* वरुणः सेवितवान् ॥ दर्शम् । दृशेः । 'इरितो वा' (पा० सू० ३।१।५७) इति च्लेः—अङादेशः । 'ऋदृशोऽङि गुणः' (पा० सू० ७।४।१६) इति गुणः । विश्वदर्शतम् । दृशेः 'भृमृदृशि' इत्यादिना अतच्प्रत्ययान्तो दर्शतशब्दः । मरुद्वृधादित्वात् पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् (पा० सू० ६।२।१०६।२) । यद्वा । विश्वं दर्शनीयमस्येति बहुव्रीहिः । 'बहु-

त्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्' इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम्। चमि। 'आतो धातोः' (पा० सू० ६।४।१४०) इत्यत्र आतः इति योगविभागात् आकार-लोपः ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ—सभी के देखने योग्य तथा मेरे अनुग्रहार्थ आविर्भूत होनेवाले वरुण देव का मैंने साक्षात्कार किया है। मैंने पृथ्वी पर उनके रथ को भलीभाँति देखा है। मेरी इन स्तुति रूप वाणियों को वरुणदेव ने श्रवण किया है ॥ १८ ॥

वरुणप्रघासेषु 'इमं मे वरुण' इति वारुणस्य हविषः अनुवाक्या। 'पञ्चम्यां पौर्णमास्याम्' इति खण्डे सूत्रितम्—'इमं मे वरुण श्रुधि तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानः' (आश्व० श्रौ० २।१७) इति ॥

(वरुणसे अपनी रक्षाके लिए याचना—)

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युरा चके ॥ १९ ॥

[पदानि] इमम्। मे। वरुण। श्रुधि। हवम्। अद्य। च। मृडय। त्वाम्। अवस्युः। आ। चके ॥ १९ ॥

सा० भा०—*वरुण! मे* मदीयं *इमं हवम्* आह्वानं *श्रुधि* शृणु। किंच *अद्य* अस्मिन् दिने *मृडय* अस्मान् सुखय। *अवस्युः* रक्षणेच्छुः अहं *त्वां* वरुणम् आभिमुख्येन *चके* शब्दयामि स्तौमीत्यर्थः॥ श्रुधि। 'श्रु श्रवणे'। लोटो हिः। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' इति हेर्धिरादेशः। 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति संहितायां दीर्घः। अवस्युः। अवस शब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्।' 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः। आ चके। 'कै गै शब्दे'। अस्मात् लिटि 'आदेचः' (पा० सू० ६।१।४५) इति आत्वम्। द्विर्भावचुत्वे। 'आतोलोप इटि च' (पा० सू० ६।४।६४) इति आकारलोपः। 'तिङ्ङतिङः इति निघातः ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ—हे वरुण! आप मेरी इस पुकार को सुनें। मुझे आज सुखी करें। अपनी रक्षा चाहनेवाला मैं आपकी स्तुति करता हूँ ॥ १९ ॥

(शुनःशेपका वरुणसे रक्षाका प्रतिवचन चाहना—)

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि ।
स यामनि प्रति श्रुधि ॥ २० ॥

[पदानि] त्वम् । विश्वस्य । मेधिर । दिवः । च । ग्मः । च । राजसि । सः । यामनि । प्रति । श्रुधि ॥ २० ॥

सा० भा०—हे *मेधिर*! मेधाविन् वरुण! *त्वं दिवश्च* द्युलोकस्यापि *ग्मश्च* भूलोकस्यापि एवमात्मकस्य *विश्वस्य* सर्वस्य जगतो मध्ये *राजसि* दीप्यसे । सः तादृशः त्वं *यामनि* क्षेमप्रापणे अस्मदीये *प्रति श्रुधि* प्रतिश्रवणम् आज्ञापनं कुरु । रक्षिष्यामि इति प्रत्युत्तरं देहीत्यर्थः । दिवः । 'ऊडिदम्' इत्यादिना षष्ठ्या उदात्तत्वम । ग्मः । 'ग्मा' (नि०१,१,२) इत्येतत् भूनामसु पठितम् । 'आतो धातोः' इत्यत्र आतः इति योगविभागात् 'आतो लोपः' इति प्रतिषेधेऽपि (?) व्यत्ययेन आकार लोपः । उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्तेरुदात्तत्वम् । यामनि । 'या प्रापणे' । 'आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च' इति मनिन् । नित्त्वादाद्युदात्तत्वम् । श्रुधि । उक्तम् ॥ २० ॥

मंत्रार्थ—हे मेधावी वरुण ! आप द्युलोक एवं भूलोक रूप सम्पूर्ण जगत् में उद्दीप्त हो रहे हैं। आप हमारे कल्याण के लिए *"मैं तेरी रक्षा करूँगा"* ऐसा प्रत्युत्तर दें ॥ २० ॥

(पाशसे छूटने के लिए प्रार्थना—)

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत ।
अवाधमानि जीवसे ॥ २१ ॥

[पदानि] उत् । उतऽतमम् । मुमुग्धि । नः । वि । पाशम् । मध्यमम् । चृत । अव । अधमानि । जीवसे ॥ २१ ॥

सा० भा०— नः अस्माकम् *उत्तमम्* शिरोगतम् *पाशम् उत् मुमुग्धि* उत्कृष्य मोचय । *मध्यमम्* उदरगतम् पाशं *वि चृत* वियुज्य नाशय । *जीवसे* जीवितुम् *अधमानि* मदीयान् पादगतान् पाशान् *अव चृत* अवकृष्य नाशय ।

त्तमम् । उञ्छादिषु पाठादन्तोदात्तत्वम् । मुमुग्धि । 'मुच्लृमोक्षणे' 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्यश्लुः । द्विर्भावः । हलादिशेषः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (पा०सू० ६।४।१०१) इति हेर्धिरादेशः। 'तिङ्ङतिङः' इति निघातः । चृत । 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' । लोटो हिः । 'तुदादिभ्यः शः' । 'अतो हेः' इति हेर्लुक् । जीवसे । 'जीव प्राणधारणे' । 'तुमर्थे सेसेन्' इति असे प्रत्ययः । प्रत्ययस्वरः ॥ २१ ॥

[इति ऋग्वेदप्रथममण्डले पञ्चविंशं वरुणसूक्तं समाप्तम्]

मंत्रार्थ—हे वरुण ! आप हमारे शिर में बँधे पाश को दूर कर दें, तथा जो पाश मेरे ऊपर लगा है उसे भी तोड़-फोड़ कर नष्ट कर दें एवं पैर में बंधे हुए पाश को भी खोलकर नष्ट कर दें । ॥ २१ ॥

दूसरा *अर्थ*—हे वरुण ! आप हमारे उत्तम अर्थात् शिरोरोग-जन्य प्रमादादि एवं आलस्यादि रूप पाश को दूर कर दें, मध्यम अर्थात् उदरगत अन्न के अपरिपाकजन्य रोगरूप पाश का नाश कर दें । तथा हमारे जीवन के लिये अधम अर्थात् पाद रोगादि रूप पाश को नष्ट कर दें ॥ २१ ॥

[यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का २५ वाँ सूक्त समाप्त हुआ]
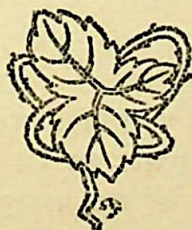
ऋग्वेदप्रथममण्डले

उषःसूक्तम्* ।

[सायणभाष्य-मन्त्रार्थप्रकाशिकाख्यटीकाद्वयोपेतम्]

—*—

(सभी ज्योतियोंमें उषाका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन—)

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागाच्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितुः सवाय एवा रात्र्युषसे योनिमारैक् ॥ १ ॥

[पदानि] इदम् । श्रेष्ठम् । ज्योतिषाम् । ज्योतिः । आ । अगात् । चित्रः । प्रऽकेतः । अजनिष्ट । विऽभ्वा । यथा । प्रऽसूता । सवितुः । सवाय । एव । रात्री । उषसे । योनिम् । अरैक् ॥ १ ॥

सा० भा०—इत्थं सप्तममध्यायं व्याख्याय अष्टमोऽध्यायो व्याख्यातुमारभ्यते । प्रथमे मण्डले षोडशेऽनुवाके सप्त सूक्तानि गतानि । 'इदम्' इति विंशत्यृचमष्टमं सूक्तम् । अत्रानुक्रम्यते—'इदं विंशतिरुषस्यं द्वितीयोऽर्धर्चो रात्रेश्च इति 'ऋषिश्चान्यस्मात्' इति परिभाषया अनुवृत्तः आङ्गिरसः कुत्स ऋषिः । अनादेशपरिभाषया त्रिष्टुप् छन्दः । उषा देवता । द्वितीयस्यार्धर्चस्य रात्रिरपि । प्रातरनुवाके उषस्ये क्रतौ त्रैष्टुभे छन्दसि एतत्सूक्तम् । सूत्रितं च—'इदं श्रेष्ठं पृथू रथ इति सूक्ते' (आश्व० श्रौ० ४।१४) इति । आश्विनशस्त्रे चेदं सूक्तं प्रातरनुवाकातिदेशात् ॥

---

*इदं श्रेष्ठमिति विंशत्यृचस्य सूक्तस्याङ्गिरसः कुत्स ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्द उषा देवता प्रातरनुवाके उषस्ये क्रतौ विनियोगः ।

ज्योतिषाम् ग्रहनक्षत्रादीनां द्योतमानानां मध्ये *इदं* उषआख्यं *ज्योतिः* *श्रेष्ठम्* प्रशस्यतमम । अस्य कोऽतिशय इति चेत् उच्यते । नक्षत्रादिकं ज्योतिः स्वात्मानमेव प्रकाशयति नान्यत् । चन्द्रस्तु यद्यप्यन्यत् प्रकाशयति तथापि न विस्पष्टप्रकाशः । औषसं तु ज्योतिः युगपदेव सर्वस्य जगतः अन्धकारनिराकरणेन विशेषेण प्रकाशकम् । अतः प्रशस्यतममित्यर्थः । तादृशं ज्योतिः *आगात्* पूर्वस्यां दिश्यागमत् । आगते च तस्मिन् *चित्रः* चायनीयः *प्रकेतः* अन्धकारावृतस्य सर्वस्य पदार्थस्य प्रज्ञापकः तदीयो रश्मिः *विभ्वा* विभुर्व्याप्तः सन् *अजनिष्ट* प्रादुरभूत् । किंच यथा *रात्री* रात्रिः स्वयं *सवितुः* सूर्यसकाशात् *प्रसूता* उत्पन्ना । सूर्यो हि अस्तं गच्छन् रात्रिं जनयति । तस्मिन्ननस्तमिते रात्रेरुत्पत्त्यभावात् । एवमेव रात्रिरपि *उषसे सवाय* उषसः उत्पत्त्यै तदर्थं *योनिं* स्थानं स्वकीयापरभागलक्षणम् *अरैक्* आरेचितवती कल्पितवतीत्यर्थः । *यद्वा* । प्रसूता रात्रिसकाशादुत्पन्नोषाः सवितुः सूर्यस्य सवाय प्रसवाय जन्मने यथा भवति एवं रात्रिरपि उषसे उषसो यज्जन्म तदर्थं योनिं स्वापरभागलक्षणम् स्थानं कृतवती । अत्र निरुक्तम्—'इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागमत् चित्रं प्रकेतनं प्रज्ञाततममजनिष्ट विभूततमं यथा प्रसूता सवितुः प्रसवाय रात्रिरादित्यस्यैवं रात्र्युषसे योनिमचिरत्स्थानम्' (निरु० २।१९) इति ।, श्रेष्ठम् । प्रशस्यशब्दात् आतिशायनिकः इष्ठन् । 'प्रशस्यस्य श्रः' (पा० सू० ५।३।६०) इति श्रादेशः । 'प्रकृत्यैकाच्' (पा० सू० ६।४।१६३) इति प्रकृतिभावात् टिलोपाभावः । अगात् । एतेः लुङि 'इणो गा लुङि' इति गादेशः । 'गातिस्था०' इति सिचो लुक् । प्रकेतः । 'कित ज्ञाने' । अन्तर्भावितण्यर्थात् कर्मणि घञ् । थाथादिना उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् । अजनिष्ट । 'जनी प्रादुर्भावे' । लुङि सिचि इडागमः । विभ्वा । 'विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्' इति भवतेः डुप्रत्ययः । 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना सोः आकारादेशः । 'ओः सुपि' इति यणादेशस्य 'न भूसुधियोः' इति प्रतिषेधे प्राप्ते 'छन्दस्युभयथा' इति यणादेशः । व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम् । यद्वा । विपूर्वात् भवतेः औणादिको डुन्प्रत्ययः । नित्त्वाद्युदात्तत्वम् । प्रसूता । 'षूङ् प्राणिप्रसवे' । कर्मणि निष्ठा । 'गतिरनन्तरः' इति गतेः प्रकृतिस्वरत्वम् ।

सवाय। 'छन्दसि जवसवौ वक्तव्यौ' (पा० सू० ३।३।५६।४) इति निपातनात् अच्। चित्वादन्तोदात्तत्वम्। 'अणो प्रगृह्यस्यानुनासिकः' इति संहितायाम् आकारः सानुनासिकः। एत्र। 'निपातस्य च' इति संहितायाम् दीर्घः। रात्री। 'रात्रेश्चाजसौ' इति ङीप्। 'यस्येति च' इति इकारलोपः। अरैक्। 'रिचिर् विरेचने' लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। लघूपधगुणे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तिलोपः। वर्णव्यापत्त्या व्यत्ययेन एकारस्य ऐकारः॥ १॥

(मन्त्रार्थ प्रकाशिका टीका)

मन्त्रार्थ—ग्रहनक्षत्रादि ज्योतियों के मध्य में 'उषा' नामक ज्योति श्रेष्ठ है। ग्रहनक्षत्रादि केवल अपने स्वरूप के प्रकाशक हैं, चन्द्रमा स्व-परप्रकाशक होता हुआ भी स्पष्ट प्रकाशक नहीं है और उषा समस्त पदार्थों का स्पष्टतया प्रकाश करती है। अतः उषा श्रेष्ठ है। वह उषारूप ज्योति पूर्व दिशा में (५५ घड़ी बीतने पर) आती है। उसके आने पर उसकी किरणें सर्वत्र व्याप्त हो जाती हैं। जिस प्रकार रात्रि में सूर्य से उत्पन्न हुई है, उसी प्रकार रात्रि उषा की उत्पत्ति के लिए स्थान देती है॥ १॥

(रात्रि और उषाका एक सूर्यसे सम्बन्ध बतलाना—)

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥२॥

[पदानि] रुशत्ऽवत्सा। रुशती। श्वेत्या। आ। अगात्। अरैक्। ऊँ इति। कृष्णा। सदनानि। अस्याः। समानबन्धू। इति समानऽबन्धू। अमृते इति। अनूची इति। द्यावा। वर्णम्। चरतः। आमिनाने इत्याऽमिनाने॥ २॥

सा० भा०—*श्वेत्या* इत्युषसो नामधेयम्। *रुशती* दीप्ता *श्वेत्या* श्वेतवर्णोषाः। *रुशद्वत्सा* रुशन् दीप्तः सूर्यो वत्सो यस्याः सा तथोक्ता। यथा मातुः समीपे वत्सः संचरति एवमुषसः समीपे सूर्यस्य नित्यमवस्थानात्तद्वत्सत्वम्। अथवा यथा वत्सो मातुः स्तन्यं रसं

पिबन् हरति एवमुषसोऽवश्यायाख्यं रसं पिबन् वत्स इत्युच्यते। तादृशी सती *आगात्* आगतवती। आगतायाः *अस्याः* उषसः *कृष्णा* कृष्णवर्णा रात्रिः *सदनानि* स्थानानि स्वकीयान्स्याधेयामलक्षणानि *अरैक्* आरेचितवती कल्पितवती दत्तवतीत्यर्थः। *उ* इत्येतत्पादपूरणम्। अपि चैते रात्र्युषसौ *समानबन्धू* समानेनैकेन सूर्याख्येन बन्धुना सख्या युक्ते। यद्वा। सूर्येण सह सम्बद्धे। यथोषाः उदेष्यता सूर्येण संबद्धा एवं रात्रिरपि अस्तं यता सूर्येण संबद्धा। *अमृते* मरणरहिते कालात्मकतया नित्यत्वात् *अनूची* अन्वञ्चन्त्यौ। प्रथमं रात्रिः पश्चादुषा इत्यनेन क्रमेण गच्छन्त्यौ। यद्वा सूर्यगत्यनुसारेण गच्छन्त्यौ। एवंभूते *वर्णं* सर्वेषां प्राणिनाम् रूपम् *आमिनाने* जरयन्त्यौ। यद्वा स्वकीयं रूपं हिंसन्त्यौ। उषसा नैशं तमो निवर्त्यते। प्रकाशात्मकमुषसो रूपं रात्र्या। एवंविधे सत्यौ *द्यावा* द्योतमाने *चरतः* प्रतिदिवसमावर्तेते। *यद्वा*। द्यावा नभसा अन्तरिक्षमार्गेण चरतः प्रतिदिवसं गच्छतः। अत्र निरुक्तम्—"रुशद्वत्सा सूर्यवत्सा रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्याद्रसहरणाद्वा। रुशती श्वेत्यागात् श्वेत्या श्वततेररिचत्कृष्णा सदनान्यस्याः कृष्णवर्णा रात्रिः कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः। अथैने संस्तौति समानबन्धू समानबन्धने अमृते अमरणधर्माणावनूची अनूच्याविति इतरेतरमभिप्रेत्य द्यावावर्णं चरतस्ते एव द्यावौ द्योतनादपि वा द्यावा चरतस्तया सह चरत इति स्यादामिनाने आमिन्वाने अन्योन्यस्याध्यात्मं कुर्वाणे" (निरु० २।२०) इति। श्वेत्या। 'श्विता वर्णे'। अस्मात् ण्यन्तात् 'अचो यत्' इति भावे यत्। णिलोपः। अर्शआदित्वात् मत्वर्थीयः अच्। अमृते। मृतं मरणमनयोर्नास्तीति बहुव्रीहौ। 'नञो जरमरमित्रमृताः' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। अनूची। अनुपूर्वादञ्चतेः 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्। 'अनिदिताम्' इति नलोपः। 'अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्' इति ङीप्। 'अचः' इत्यकारलोपे 'चौ' इति दीर्घः। 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः' इति ङीप् उदात्तत्वम्। 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेर्लुक्। आमिनाने। 'मीङ् हिंसायाम्'। क्रैयादिकः। शानचि 'मीनातेर्निगमे' इति ह्रस्वत्वम्॥ २॥

मन्त्रार्थ—दीप्तिमती, श्वेतवर्ण, सूर्यरूप बछड़ेवाली उषा आ गयी है। उषा के आने पर कृष्णवर्णा रात्रि अपने अन्तिम याम के अर्धभाग रूपी स्थान को उसे देती है। यह रात्रि और उषा सूर्यरूप-बन्धन से युक्त है (उदय काल में उषा सूर्य से सम्बद्ध है और अस्त काल में रात्रि सूर्य से सम्बद्ध है)। ये दोनों कालरूप होने के कारण मरण रहित हैं। दिन से पहले उषा आती है और बाद में रात्रि; इस तरह इन दोनों का क्रमिक आगमन होता है। रात्रि के द्वारा प्राणियों का रूप तिरोहित कर दिया जाता है और उषा के द्वारा वह प्रकट कर दिया जाता है। दोनों ही आकाश रूप एक ही मार्ग से क्रमशः आती जाती हैं ॥ २ ॥

(रात्रि और उषाका परस्परमें वैमत्याभावका प्रतिपादन—)

समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥३॥

[पदानि] समानः । अध्वा । स्वस्रोः । अनन्तः । तम् । अन्याऽअन्या । चरतः । देवशिष्टे । न । मेथेते इति । न । तस्थतुः । सुमेके इति सुमेके । नक्तोषासा । सऽमनसा । विरूपे इति विऽरूपे ॥३॥

सा० भा०—*स्वस्रोः* भगिन्योः रात्र्युषसोः *अध्वा* संचरणसाधनभूतो मार्गः समानः एक एव। येनैव आकाशमार्गेणोषा निर्गच्छति तेनैव रात्रिरपि। स च मार्गः *अनन्तः* अवसानरहितः। *तं* मार्गं *देवशिष्टे* देवेन द्योतमानेन सूर्येण अनुशिष्टे शिक्षिते सत्यौ *अन्यान्या* एकैका *चरतः* क्रमेण गच्छतः। अपि च *सुमेके* शोभनमेहने सर्वेषामुत्पादकत्वात्, शोभनप्रजनने *नक्तोषासा* रात्रिरुषाश्च *विरूपे* तमःप्रकाशलक्षणाभ्यां विरुद्धरूपाभ्यां युक्ते अपि *समनसा* समानमनस्के ऐकमत्यं प्राप्ते सत्यौ *न मेथेते* परस्परं न हिंस्तः तथा *न तस्थतुः* क्वचिदपि न तिष्ठतः। सर्वदा लोकानुग्रहार्थं गच्छत इत्यर्थः। अन्यान्या। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवत इति वक्तव्यं समासवच्च बहुलम्' (पा० म० ८।१।१२।११) इति

अन्यशब्दस्य द्विर्भावः। 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति आम्रेडितसंज्ञायाम्। 'अनुदात्तं च' इति आम्रेडितानुदात्तत्वम्। देवशिष्टे। 'शासु अनुशिष्टौ'। अस्मात् कर्मणि निष्ठा। 'यस्य विभाषा' इति इट्प्रतिषेधः। 'शास इदङ्हलोः' (पा० सू० ६।४।३४) इति उपधाया इत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्। 'तृतीया कर्मणि' इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। मेथेते। 'मिथृ मेथृ मेधाहिंसनयोः'। भौवादिकः। अनुदात्तेत्। सुमेके। 'मिह सेचने'। भावे घञ्। शोभनो मेहो ययोस्ते। व्यत्ययेन ककारः। उत्तर० पदस्य ञित्स्वरेणाद्युदात्तत्वम् 'आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि' इत्युत्तरपदाद्युदात्तत्वम्। नक्तोषासा। 'सुपां सुलुक्' इति विभक्तेराकारः। 'अन्येषामपि दृश्यते' इति संहितायामुपधादीर्घः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—परस्पर में भगिनी (बहन) रूप रात्रि और उषा का संचारसाधनभूत आकाशरूप मार्ग एक ही है। वह आकाश मार्ग अन्त-रहित है। प्रकाशात्मक सूर्य से रिक्त होने पर उस मार्ग में क्रमशः दोनों आती-जाती हैं। सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करने वाली रात्रि और उषा, तम और प्रकाश जैसे विरुद्ध रूपों से युक्त होने पर भी ऐकमत्य को प्राप्त कर एक दूसरे की हिंसा नहीं करती हैं। यह दोनों लोकानुग्रहार्थ कहीं भी क्षणमात्र नहीं ठहरती हैं ॥ ३ ॥

(उषा के तमोनिवारणरूप कार्य का वर्णन—)

भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दुरो न आवः।
प्रार्प्या जगद्व्यु नो रायो अख्यदुषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥४॥

[पदानि] भास्वती। नेत्री। सूनृतानाम्। अचेति। चित्रा। वि। दुरः। नः। आवरित्यावः। प्रऽअर्प्य। जगत्। वि। ऊ इति। नः। रायः। अख्यत्। उषा। अजीगः। भुवनानि। विश्वा ॥ ४ ॥

सा० भा०—भास्वती विशिष्टप्रकाशनयुक्ता। सूनृतेति वाङ्नाम। *सूनृतानां* वाचां *नेत्री* उत्पादयित्री। उषसः प्रादुर्भावानन्तरं हि पशुपक्षिमृगादयः सर्वे शब्दं कुर्वन्ति। एवंभूता उषाः *अचेति* अस्माभिः अज्ञायि।

चित्रा चायनीया ज्ञाता सा नः अस्माकं *दुरः* द्वाराणि तमसा तिरोहितानि *वि आवः* व्यवृणोत्। यथास्माभिर्दृश्यन्ते तथा तमो निवार्य प्रकाशयतीत्यर्थः। अपि च *जगत्* सर्वं भुवनं *प्रार्प्य* प्रकाशं गमयित्वा *नः* अस्माकम् *रायः* धनानि *वि अख्यत्* विशिष्टप्रकाशनयुक्तान्यकरोत्। *उ* इत्येतत् पादपूरणम्। सैषा *उषा विश्वा भुवनानि* सर्वाणि भुवनानि तमसा तिरोहितत्वेन अविद्यमानकल्पानि *अजीगः* उद्गिरति स्वमुखान्निर्गमयति। स्वकीयेन प्रकाशेन तमो निःसार्य पुनरुत्पन्नानीव करोतीत्यर्थः। नेत्री। 'णीञ् प्रापणे'। तृच्। 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'। 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' इति ङीप उदात्तत्वम्। अचेति। 'चिती संज्ञाने'। दुरः। द्वारशब्दस्य 'द्वयेर्मतौ बहुलम्' (पा० सू० ६।१।३७६) इति बहुलवचनात् सम्प्रसारणम्। आवः। वृञ् वरणे'। 'लुङि मन्त्रे घस्०' इति च्लेर्लुकि गुणः। 'हल्ङ्याभ्यः' इति तिलोपः। 'छन्दस्यपि दृश्यते' इति आडागमः। प्रार्प्य। 'ऋ गतौ'। णौ 'अर्ति ह्री०' इत्यादिना पुक्। समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'। अख्यत्। 'ख्या प्रकथने'। लुङि 'अस्यतिवक्ति' इत्यादिना च्लेरङादेशः। अजीगः। 'गॄ निगरणे'। लङि तिपि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य श्लुः। द्विर्वचनोरदत्त्वहलादिशेषाः। 'अर्तिपिपर्त्योश्च', 'बहुलं छन्दसि' इति अभ्यासस्य इत्वम्। छान्दसः ईकारः। यद्वा। अस्मात् ण्यन्तात् लुङि चङि द्विर्भावसन्वद्भावेत्वदीर्घाः। छान्दसः चङो लोपः॥ ४॥

मन्त्रार्थ—विशिष्ट प्रकाशवाली और पशु-पक्षियों के शब्द को उत्पन्न करने वाली उषा को हम जानते हैं। आश्चर्यजनिका उषा ने अन्धकार से आच्छादित हमारे गृह-द्वारों को प्रकाशित किया है। और सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर हमारी धन आदि सम्पत्ति को प्रकाशयुक्त किया है। इसी प्रकार अन्धकार से आच्छादित समस्त प्राणियों को प्रकाश देकर अन्धकार के मुख से निकाल दिया है॥४॥

(उषाके द्वारा अग-जगका गतिशील होना—५-६)

जिह्मश्ये चरितवे मघोन्याभोगय इष्टये राय उ त्वम्।
दभ्रं पश्यद्भ्यः उर्विया विचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ५॥

[*पदानि*] जिह्मऽश्ये । चरितवे । मघोनी । आऽभोगये । इष्टये । राये । ॐ इति । त्वम् । दभ्रम् । पश्यत्ऽभ्यः । उर्विया । विऽचक्षे । उषाः । अजीगः । भुवनानि । विश्वा । ॥ ५ ॥

सा० भा०—मघोनी इत्युषसो नामधेयम् । *मघोनी* धनवती उषाः जिह्मश्ये जिह्मं वक्रं शयानाय पुरुषाय *चरितवे* चरितुं शयनादुत्थाय स्वापेक्षितं प्रति गन्तुं व्युच्छन्ती भवति । त्वम् । अयमेकशब्दपर्यायः सर्वनामशब्दः । यदाह 'त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तम्' । (निरु० १।७) इति । त्वम् एकं प्रति *आभोगये* आभोग्याय शब्दादिविषयार्थं तथा अपरं प्रति इष्टये यागार्थं तथा अन्यं प्रति *राये* धनार्थं च व्युच्छन्तीति शेषः । उशब्दश्चार्थे । अपि च *दभ्रम्* अल्पं *पश्यद्भ्यः* अन्धकारावृतत्वेन ईषद् द्रष्टृभ्यो मनुष्येभ्यः *विचक्षे* विशिष्टप्रकाशाय व्युच्छन्ती *उर्विया* उर्वी विस्तीर्णा *उषाः* सर्वाणि भूतजातानि तमसा तिरोहितानि प्रकाशदानेन *अजीगः* उद्गीर्णानीव करोति । जिह्मश्ये । शीङ् स्वप्ने' । जिह्मं शेते इति जिह्मशीः । 'क्विप् च' इति क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम् 'एरनेकाचः' इति यण् । 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' इति विभक्तेः स्वरितत्वम् । आभोगये । आभोगशब्दाच्चतुर्थ्येकवचने यकारोपजनः । यद्वा । आङ्पूर्वात् भुजेः बहुलवचनादौणादिकः किप्रत्ययः कुत्वं च । उर्विया । 'इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्' (पा० सू० ७।१।३९।१) इति उर्वीशब्दादुत्तरस्य सोः डियाजादेशः । विचक्षे । 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' । विपूर्वादस्मात् संपदादिलक्षणे भावे क्विप् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—अवश्यायादि रूप धनवती उषा बुरी तरह से सोये हुए पुरुष को ठीक समय पर अपने अपेक्षित कार्य पर जाने के लिए चेष्टा करती है । किसी को बोलने के लिए, किसी को यज्ञादि शुभ कर्म करने के लिए, किसी को धन प्राप्त करने के लिए चेष्टा करती है । और अन्धकार से आच्छादित होने के कारण अल्प दृष्टि वाले मनुष्यों को विशिष्ट प्रकाश देने की चेष्टा करती है । सर्वत्र फैली हुई उषा

अन्धकार से आच्छादित हुए प्राणियों को प्रकाश देकर अनुगृहीत करती है ॥ ५ ॥

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै ।
विसदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥ ६ ॥

[*पदानि*] क्षत्राय । त्वम् । श्रवसे । त्वम् । महीयै । इष्टये । त्वम् । अर्थम्ऽइव । त्वम् । इत्यै । विऽसदृशा । जीविता । अभिऽप्रचक्षे । उषाः । अजीगः । भुवनानि । विश्वा ॥ ६ ॥

सा० भा०—*क्षत्राय* धननामैतत् । धनार्थं *त्वम्* एकं प्रति *उषा* व्युच्छन्ती इति शेषः । तथा *श्रवसे* अन्नार्थं त्वं एकं प्रति *महीयै* महत्यै *इष्टये* अग्निष्टोमादिमहायज्ञार्थं *त्वम्* एकं प्रति व्युच्छन्ती । तथा *अर्थमिव* अपेक्षितमर्थं प्रति *इत्यै* गमनार्थं *त्वम्* एकं प्रति व्युच्छन्ती । अपि च *विसदृशा* विलक्षणानि नानारूपाणि *जीविता* जीवितानि जीवनोपायभूतानि कृषिवाणिज्यादीनि *अभिप्रचक्षे* आभिमुख्येन प्रकाशयितु व्युच्छन्ती *उषाः* सर्वाणि भूतजातानि तमसा निगीर्णानि *अजीगः* प्रकाशनेन उद्गीर्णानीवाकरोत् । त्वम् । 'त्वसमसिमनेमेत्यनुच्चानि' (फि० सू० ७८) सर्वानुदात्तत्वम् । महीयै । महौ । महेः 'इन् सर्वधातुभ्यः' । इतीन्प्रत्ययः । 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीष् । 'उदात्तयणः' इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । छान्दसः ईकारोपजनः । *यद्वा* । महीशब्दादुत्तरस्य चतुर्थ्येकवचनस्य 'याडापः' (पा० सू० ७।३।११३) इति व्यत्ययेन याडागमः । छान्दसमन्तोदात्तत्वम् । विसदृशा । 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' इत्यत्र 'समानान्ययोश्च' (पा० सू० ३।२।६०।१) इति वचनात् दृशेः कञ् । 'समानस्य छन्दसि' इति सभावः । विगतसादृश्यानि विसदृशानि । 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अभिप्रचक्षे । 'चक्षेः तुमर्थेऽसेसेन्' इति सेन् प्रत्ययः । 'स्कोः संयोगाद्योः' इति कलोपः । कत्वषत्वे ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—किसी को धन के लिए, अन्न के लिए, किसी को अग्नि-

ग्नोमादि श्रौत यज्ञों के लिए, किसी को अपेक्षित कार्यार्थ गमन के लिए तथा अनेक प्रकार के वाणिज्यादि कार्यों को प्रकाशित करने के लिए विविध चेष्टाएँ करती हुई उषा अन्धकारावृत समस्त प्राणियों को स्व-प्रकाश-द्वारा प्रकाशित करती है ॥ ६ ॥

(*यज्ञस्थलसे तमको दूर करनेके लिए प्रार्थना*—)

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ॥ ७ ॥

[*पदानि*] एषा। दिवः। दुहिता। प्रति। अदर्शि। विऽउच्छन्ती। युवतिः। शुक्रऽवासा। विश्वस्य। ईशाना। पार्थिवस्य। वस्वः। उषः। अद्य। इह। सुऽभगे। वि। उच्छ। ॥ ७ ॥

सा० भा०—*दिवो दुहिता* व्योम्नो दुहितृस्थानीया। तस्य हि पूर्वार्धे उषा उत्पद्यते। सा *एषा व्युच्छन्ती* तमो वर्जयन्ती *प्रत्यदर्शि* सर्वैः प्राणिभिर्दृष्टाभूत्। कीदृशी सा। *युवतिः* यावयित्री फलानां पुरुषैः प्रापयित्री नित्ययौवनोपेता वा। *शुक्रवासाः* श्वेतवसना निर्मलदीप्तिर्वा। तथा *विश्वस्य* सर्वस्य *पार्थिवस्य* पृथिव्याः सम्बन्धिनः *वस्वः* धनस्य *ईशाना* ईश्वरी। हे *सुभगे*! शोभनधने *उषः* तादृशी त्वम् *अद्य* अस्मिन् काले *इह* अस्मिन् देवयजनदेशे *व्युच्छ* तमांसि विवासय वर्जयेत्यर्थः। दिवः। 'ऊडिदम्' इति विभक्तेरुदात्तत्वम्। व्युच्छन्ती। 'उछी विवासे'। विवासो वर्जनम्। तौदादिकः। युवतिः। 'यूनस्तिः' (पा० सू० ४।१।७७) शुक्रवासाः। 'वस आच्छादने' वस्ते सर्वमाच्छादयतीति प्रकाशो वासः। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। ईशाना। 'ईश ऐश्वर्ये'। अदादित्वात् शपो लुक्। अनुदात्तेत्त्वात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वे धातुस्वरः। पार्थिवस्य। 'पृथिव्याः ञाञौ' इति प्राग्दीव्यतीयः अञ्प्रत्ययः। वस्वः। लिङ्गव्यत्ययः 'घेर्ङिति' इति गुणस्य 'जसादिषु छन्दसि वा वचनम्' इति विकल्पितत्वादभावे यणादेशः ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक की कन्यारूपा, पुरुषों को सफल बनाने वाली

स्वच्छ दीप्ति वाली तथा पृथिवी-सम्बन्धी समस्त धन की स्वामिनी जो उषा है, वह अन्धकार को दूर भगाती हुई समस्त प्राणियों द्वारा देखी गयी है। शोभन धनवाली उषा! तुम इस समय इस देवयजन-स्थान के अन्धकार को दूर करो ॥ ७ ॥

(उषा के द्वारा प्राणियोंमें चैतन्य का आना—)

परायतीनामन्वेति पाथ आयतीनां प्रथमा शश्वतीनाम् ।
युच्छन्ती जीवमुदीरयन्त्युषा मृतं कं चन बोधयन्ती ॥ ८ ॥

[*पदानि*] पराऽयतीनाम् । अनु । एति । पाथः । आऽयतीनाम् । प्रथमा । शश्वतीनाम् । विऽउच्छन्ती । जीवम् । उत्ऽईरयन्ती । उषाः । मृतम् । कम् । चन । बोधयन्ती ॥ ८ ॥

सा० भा०—परायतीनां परागच्छन्तीनाम् अतीतानामुषसां संबन्धि *पाथः* अन्तरिक्षैकदेशलक्षणं स्थानम्। 'पाथोऽन्तरिक्षं पथा व्याख्यातम्' (निरु० ६।७) इति यास्कः अद्यतन्युषाः *अन्वेति* अनुगच्छति। अतीता उषसो यथा व्युष्टा एवमेषापि व्युच्छतीत्यर्थः। यथा आयतीनाम् आगच्छन्तीनां *शश्वतीनां* बह्वीनामुषसां *प्रथमा* आद्या भवति। एषा यथा वर्तते एवमेव आगामिन्योऽप्युषसः इत्यर्थः। तादृशी व्युच्छन्ती तमो वर्जयन्ती *जीवं* प्राणिनां जीवात्मानं *उदीरयन्ती* शयनादूर्ध्वं प्रेरयन्ती *उषा मृतं* स्वापसमये प्रलीनेन्द्रियत्वात् मृतमिव सन्तं *कं चन* कमपि पुरुषं *बोधयन्ती* पुनः इन्द्रियप्रवेशेन चेतनं कुर्वती प्रवर्तते इति शेषः॥ परायतीनाम्। 'इण् गतौ'। 'लटः शतृ'। 'इणो यण्'। 'उगितश्च' इति ङीप्। ङ्याश्छन्दसि बहुलम्' इति नाम उदात्तत्वम् ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—आज की उषा ने बीती हुई उषाओं के स्थान को प्राप्त किया है। तथा आनेवाली उषाओं के प्रति यह उषा पहली है। यह उषा अन्धकार को हटाती हुई, प्राणियों की आत्मा को शयन के बाद सचेष्ट करती हुई, शयन काल में मृतक के समान निश्चेतन जिस किसी भी पुरुष को सचेत करती हुई विराजमान है ॥ ८ ॥

(उषाके उन तीन कर्मोंका वर्णन जो अन्य देवतासे अशक्य हैं—)

उषो यदग्निं समिधे चकर्थ वि यदावश्चक्षसा सूर्यस्य ।
यन्मानुषान्यक्ष्यमाणाँ अजीगस्तद्देवेषु चकृषे भद्रमप्नः ॥९॥

[पदानि] उषः । यत् । अग्निम् । सम्ऽइधे । चकर्थ । वि । यत् । आवः । चक्षसा । सूर्यस्य । यत् । मानुषान् । यक्ष्यमाणान् । अजीगरिति । तत् । देवेषु । चकृषे । भद्रम् । अप्नः ॥ ९ ॥

सा० भा०—हे उषः ! त्वम् *अग्निं* गार्हपत्यादिरूपं *समिधे* समिन्धनाय प्रज्वलनार्थं *यत् चकर्थ* कृतवती । उषःकाले ह्यग्नयो होमार्थमुपसमिध्यन्ते । अपि च तमसा तिरोहितं जगत् *सूर्यस्य चक्षसा* प्रकाशेन *यत् वि आवः* व्यवृणोः तमसा विश्लिष्टमकरोः । तथा *मानुषान्* मनोः पुत्रान् मनुष्यान् *यक्ष्यमाणान्* यागं करिष्यतस्त्वं *यत् अजीगः* पूर्वं तमसा ग्रस्तान् प्रकाशेन उद्गीर्णानिवाकरोः । हे उषः देवेषु मध्ये त्वमेव *भद्रं* भजनीयं *तत्* एतत् त्रिविधम् *अप्नः* कर्म *चकृषे* कृतवती । आवः 'वृञ् वरणे' । लुङि 'मन्त्रे घस०' इति च्लेर्लुक् । गुणे 'हल्ङ्याब्भ्यः०' इति सिलोपः । 'छन्दस्यपि दृश्यते' इति आडागमः । मानुषान् । 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' इति अञ् षुगागमश्च ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—हे उषा ! तुमने गार्हपत्यादि अग्नियों को प्रदीप्त किया है और सम्पूर्ण जगत् को सूर्य के प्रकाश से अन्धकारशून्य किया है। इसी प्रकार यज्ञ करनेवाले मनुष्यों को अन्धकार से बाहर किया है। हे उषा ? देवताओं के बीच में केवल तुमने कल्याणकारी इन तीनों कार्यों को किया है ॥ ९ ॥

(उषाका त्रिकालाबाध्यत्व प्रतिपादन—१०-११)

कियात्या यत्समया भवाति या व्यूषुर्याश्च नूनं व्युच्छान् ।
अनु पूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषमन्याभिरेति ॥१०॥

[पदानि] कियति । आ । यत् । समया । भवाति । याः ।

विऽऊषुः । याः । च । नूनम् । विऽउच्छान् । अनु । पूर्वाः । कृपते । वावशाना । प्रऽदीध्याना । जोषम् । अन्याभिः । एति ॥ १० ॥

सा० भा०—*समया* इत्यव्ययं समीपवचनम्। उषाः *समया भवाति* समीपस्था भवतीति *यत्* एतत् *तत् कियति* काले प्रवृत्तं परिसमाप्तं वा इति आकारः प्रश्नार्थः। एतदुक्तं भवति। उषा येन कालेन संयुक्ता स कालः कियान् तस्य कालस्य किंपरिमाणमिति। अनेन उषसोऽनन्तत्वमुक्तम्। तदेव स्पष्टीकरोति। पुरा *याः* उषसः व्यूषुः व्युष्टाः संजाताः। *नूनम्* अवश्यमितः परं *याश्च* उषसः *व्युच्छान्* व्युच्छन्ति व्युष्टाः भविष्यन्ति। तत्र पूर्वा व्युष्टा अतीता उषसः *वावशाना* कामयमाना इदानीं वर्तमाना उषाः *अनु कृपते* अनुकल्पते समर्था भवति। अतीता उषसो यथा प्रकाशमकुर्वन् तद्वदेषापि प्रकाशं करोतीत्यर्थः। तथा प्रदीध्याना प्रकर्षेण दीप्यमाना उषाः *अन्याभिः* आगामिनीभिः उषोभिः जोषं सह *एति* संगच्छते। आगामिन्योऽपि एतदीयं प्रकाशम् अनुकुर्वन्ति इत्यर्थः। कियति। किंपरिमाणमस्य। 'किमिदंभ्यां वो घः' (पा० सू० ५।२।४०) इति घत्वविधानसामर्थ्यात् किंशब्दादपि परिमाणार्थे वतुप् वकारस्य घत्वम्। 'इदंकिमोरीश्की' (पा० सू० ६।३।९०) इति किमः की आदेशः। घस्य इयादेशे 'यस्य' इति लोपः। प्रत्ययाद्युदात्तत्वम् छान्दसः सांहितिको दीर्घः। भवाति। लेटि आडागमः। व्यूषुः। विपूर्वो वसतिर्व्युच्छने वर्तते। लिटि उसि किरवे यजादित्वात् संप्रसारणं द्विर्वचनादि। व्युच्छान्। 'उछी विवासे'। विवासो वर्जनम्। लेटि आडागमः। संयोगान्तस्य लोपः। कृपये। 'कृपू सामर्थ्ये'। व्यत्ययेन शः। वावशाना 'वश कान्तौ'। अस्मात् यङ्लुगन्तान् ताच्छीलिकः चानश्। प्रदीध्याना 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः'। 'लटः शानच्'। अदादित्वात् शपो लुक्। 'जक्षित्यादयः षट्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम्। 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। गतिसमासे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥ १० ॥

मंत्रार्थ—जब उषा समीप होती है, तो कितने समय तक वह रहती है अथवा वह कब समाप्त होती है, यह जानना कठिन है। जो

उषा पहले बीत चुकी है और उसके बाद जो उषा व्यतीत होगी, उनमें अतीत उषाओं की कामना करती हुई वर्तमान कालिक उषा समर्थ होती है। तथा प्रदीप्यमान यह उषा आगामिनी उषाओं के साथ संगत होती है। अर्थात् आगामिनी उषा भी वर्तमान उषा के प्रकाशका अनुकरण करती है॥ १०॥

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान् ॥११॥

[पदानि] ईयुः । ते । ये । पूर्वऽतराम् । अपश्यन् । विऽउच्छन्तीम् । उषसम् । मर्त्यासः । अस्माभिः । ऊँ इति । नु । प्रतिऽचक्ष्या । अभूत् । ओ इति । ते । यन्ति । ये । अपरीषु । पश्यान् ॥ ११ ॥

सा० भा०—ये मर्त्यासः मरणधर्माणो मनुष्याः *व्युच्छन्तीं* विवाशयन्तीं *पूर्वतराम्* अतिशयेन पूर्वां विप्रकृष्टाम् *उषसम् अपश्यन्* दृष्टवन्तः *ते* मनुष्या *ईयुः* गताः। तथा *अस्माभिः* अपि *नु* इदानीं *प्रतिचक्ष्या* प्रकर्षेण द्रष्टव्या *अभूत्* जाता। तथा *अपरीषु* भाविनीषु रात्रिषु *ये* मनुष्याः एतामुषसं *पश्यान्* पश्यन्ति *ते*। *आ उ* इति निपातद्वयसमुदायः। तत्र उ इत्येतदवधारणे। एव *यन्ति* आगच्छन्त्येव। कालत्रयेप्येषा व्याप्य वर्तते इत्यर्थः। ईयुः। 'इण् गतौ'। लिटि उसि 'इणो यण्' इति यणादेशः। 'द्विर्वचनेऽचि' इति तस्य स्थानिवद्भावात् द्विर्भावे। 'दीर्घ इणः किति' (पा० सू० ७। ४।६९) इति अभ्यासस्य दीर्घत्वम्। ते 'युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्' इति सकारस्य षत्वं ष्टुत्वं च। मर्त्यासः। आज्जसेरसुक् ॥११॥

मंत्रार्थ—पूर्वकालीन उषा को जिन मनुष्यों ने देखा था, वे मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं और हमसे भी वर्तमानकालिक उषा देखी गई है तथा भावी रात्रियों में आनेवाली उषा को भी जो मनुष्य देखेंगे वे भी इस संसार में निश्चित हो आवेंगे अर्थात् यह उषा तीनों कालों में रहती हैं॥ ११ ॥

(उषाके स्वरूपका निर्देश—)

यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती ।
सुमङ्गलीर्बिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ ॥१२॥

[पदानि] यावयत्ऽद्वेषा । ऋतऽपाः । ऋतेजाः । सुम्नऽवरी सूनृताः । ईरयन्ती । सुऽमङ्गली । बिभ्रती । देवऽवीतिम् । इह । अद्य । उषः । श्रेष्ठऽतमा । वि । उच्छ ॥ १२ ॥

सा० भा०—यावयद्द्वेषाः । यावयन्ति अस्मत्तः पृथक्कृतानि द्वेषांसि द्वेष्टॄणि राक्षसादीनि ययासा तथोक्ता । न ह्युषसि जातायां राक्षसादयोऽवतिष्ठन्ते यतस्ते निशाचराः । *ऋतपाः ।* ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पालयित्री ऋतेजाः यज्ञार्थं प्रादुर्भूता । सत्यामुषसि अहनि यागा अनुष्ठीयन्ते अतो यज्ञार्थं जातेत्युच्यते । *सुम्नावरी* सुम्नमिति सुखनाम तद्वती । *सूनृताः ।* वाङ्नामैतत् । पशुपक्षिमृगादीनां वचांसि *ईरयन्ती* प्रेरयन्त्युत्पादयन्ती । सुमङ्गली सौमङ्गल्योपेता । पत्या कदाचिदपि न वियुक्तेत्यर्थः । *देववीतिं* देवैः काम्यमानं यज्ञं *बिभ्रती* धारयन्ती हे उषः ! *श्रेष्ठतमा* उक्तेन प्रकारेणातिप्रशस्ता त्वम् इह अस्मिन् देवयजनदेशे अद्य अस्मिन् यागसमये व्युच्छ विवासय । यावयद्द्वेषाः । 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' । अस्मात् ण्यन्तात् लटः शतृ । तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति आर्धधातुकत्वात् अदुपदेशात् लसार्वधातुकानुदात्तत्वाभावात् प्रत्ययस्वर एव शिष्यते । पुनर्बहुव्रीहौ स एव स्वरः । छान्दसः पदकालीनो ह्रस्वः । ऋतपा ऋत पाति रक्षतीति ऋतपाः । 'पा रक्षणे' विच् । ऋतेजाः । ऋते निमित्तभूते जायते इति ऋतेजाः । 'जनी प्रादुर्भावे' । जनसनखनक्रमगमो विट् । 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' इति आत्वम । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति अलुक् । सुम्नावरी । छन्दसीवनिपौ' इति मत्वर्थीयो वनिप 'वनोरच' इति ङीप् नकारस्य रेफाशदेश्च । 'अन्येषामपि दृश्यते' इति दीर्घः । व्यत्ययेनप्र त्ययाद्युदात्तत्वम् । सुमङ्गली । सुमङ्गलात् संज्ञायाम्' (पा०सू० ४।१।४१ ग०) इति गौरा-

दिषु पाठात् ङीप्। 'सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्ते' इति 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपस्य विकल्पितत्वात् अभावे रुत्वविसर्गौ। देववीतिम्। 'वी गतिप्रजनकान्त्यशनखादनेषु'। देवैर्वीयते काम्यते इति देववीतिर्यज्ञः। कर्मणि क्तिन्। दासीभारादित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्॥ १२॥

मन्त्रार्थ—उषा ने हम से राक्षसों को पृथक् कर दिया है, तथा वह सत्य का पालन करनेवाली, यज्ञ के लिए उत्पन्न हुई, सुख देने-वाली, पशु-पक्षि-मृगादि की वाणी को उत्पन्न करनेवाली, पति से अवियुक्ता, देवताओं से अभिलष्यमाण यज्ञ को धारण करनेवाली है। हे उषा! उक्त प्रकार से श्रेष्ठतम आप इस देवयजन-स्थान में आज यज्ञ के समय अन्धकार को दूर करो॥ १२॥

(उषाका जरा-मरण रहित ही एक रस कार्य करना—)

शश्वत्पुरोषा व्युवास देव्यथो अद्येदं व्यावो मघोनी।
अथो व्युच्छादुत्तराँ अनु द्यूनजरामृता चरति स्वधाभिः॥१३॥

[पदानि] शश्वत्। पुरा। उषाः। वि। उवास। देवी। अथो इति। अद्य। इदम्। वि। आवः। मघोनी। अथो इति। वि। उच्छात्। उत्ऽतरान्। अनु। द्यून्। अजरा। अमृता। चरति। स्वधाभिः॥ १३॥

सा० भा०—*देवी* देवनशीला *उषाः पुरा* पूर्वस्मिन्काले *शश्वत्* नित्यं संततं *व्युवास* व्यौच्छत्। *अथो* अनन्तरम् *अद्य* अस्मिन् काले *मघोनी* धनवती उषाः तमसा तिरोहितम् *इदं* सर्वं जगत् *व्यावः* विवासितं प्रकाशनेन तमसा वियुक्तमकरोत्। *अथो* अनन्तरम् *उत्तरान्* ऊर्ध्वतरान् भाविनः *द्यून्* दिवसान् *अनु*लक्ष्य आगामिष्वपि दिवसेषु *व्युच्छात्* व्युच्छति विवासयति। अतः कालत्रयव्यापिनी सोषाः *अजरा* जरारहिता सर्वदैकरूपा *अमृता* मरणरहिता च सती *स्वधाभिः* आत्मीयैस्तेजोभिः सह *चरति* वर्तते। उवास। वस निवासे। 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' इति अभ्यासस्य संप्रसारणम्। आवः। तस्मादेव धातोर्लङि 'बहुलं छन्दसि'

इति विकरणस्य लुक्। 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तिलोपः। 'छंदस्यपि दृश्यते' इति आडागमः। उच्छात्। लेटि आडागमः। उत्तरान्। 'दीर्घादटि समानपादे' इति नकारस्य रुत्वम्। 'आतोऽटि नित्यम्' इति सानुनासिकः आकारः। अनु। 'अनुर्लक्षणे'। (पा० सू० १।४।८४) इति अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम्। अजरा अमृता। तत्र बहुव्रीहौ 'नञो जरमरमित्रमृताः' इति उत्तरपदाद्युदात्तत्वम्॥ १३॥

मन्त्रार्थ—उषा देवी ने पूर्वकाल में नित्य अन्धकार को दूर किया है और इस काल में भी धनवती उषा ने इस सम्पूर्ण जगत् को अन्धकार से विमुक्त कर दिया है। इसके बाद आगामी दिनों में भी वह अन्धकार को दूर करती है। इस प्रकार कालत्रयव्यापिनी उषा जरा-मरणरहित होकर अपने प्रकाश के साथ वर्तमान है॥ १३॥

(उषाका रथपर चढ़कर आना—)

व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः।
प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन॥ १४॥

[पदानि] वि। अञ्जिऽभिः। दिवः। आतासु। अद्यौत्। अप। कृष्णाम्। निःऽनिजम्। देवी। आवरित्यावः। प्रऽबोधयन्ती। अश्वैः। आ। उषाः। याति। सुऽयुजा। रथेन॥ १४॥

सा० भा०—दिवः नभसः संबन्धिनीषु *आतासु* दिङ्नामैतत्। आततासु विस्तीर्णासु दिक्षु उषाः *अञ्जिभिः* व्यञ्जकैः प्रकाशकैः तेजोभिः *वि अद्यौत्* विद्योतते प्रकाशते। सैषा *देवी* देवनशीला *कृष्णां निर्णिजम्*। निर्णिगिति रूपनाम। रात्रिकृतं कृष्णं रूपम् *अप आवः* अपावृणोत्। प्रकाशेन तिरस्कृतवती। अपि च *अरुणेभिः* अरुणैः लोहितवर्णैः *अश्वैः* व्यापनशीलैः स्वकीयैः किरणैस्तुरंगैर्वा *सुयुजा* सम्यग्युक्तेन *रथेन* *उषाः आ याति* आगच्छति। किं कुर्वती। *प्रबोधयन्ती* सुप्तान् प्राणिनः प्रबुद्धान् कुर्वती। अद्यौत्। 'द्युत दीप्तौ'। लुङ्। 'द्युद्भ्यो लुङि'। (पा० सू० १।३।९१) इति परस्मैपदम्। व्यत्ययेन च्लेर्लुक्। गुणे प्राप्ते

वृद्धिश्छान्दसी। यद्वा। 'द्यु अभिगमने।' आदादिकः। 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (पा० सू० ७।३।८६) इति वृद्धिः॥ १४॥

देवीनां हविःषु 'आवहन्ती' इत्येषा उषसो याज्या। सूत्रितं च—आ द्यां तनोषि रश्मिभिरावहन्ती पोष्या वार्याणि न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते। (आश्व० श्रौ० ६।१४) इति॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक की विस्तृत दिशाओं में अपने प्रकाश के साथ उषा प्रकाशित हो रही है। उस उषा देवी ने रात्रि के काले रूप को दूर कर दिया। वह सोये हुए प्राणियों को जगाती हुई रक्तवर्ण किरणों या घोड़ों से युक्त आदित्य अथवा रथ के द्वारा आ रही है॥१४॥

(उषा में त्रिविध रूप की कल्पना—)

आवहन्ती पोष्या वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना।
ईयुषीणामुपमा शश्वतीनां विभातीनां प्रथमोषा व्यश्वैत्॥१५॥

[पदानि] आऽवहन्ती। पोष्या। वार्याणि। चित्रम्। केतुम्। कृणुते। चेकिताना। ईयुषीणाम्। उपऽमा। शश्वतीनाम्। विऽभातीनाम्। प्रथमा। उषाः। वि। अश्वैत्॥ १५॥

सा० भा०—*पोष्या* यावज्जीवं पोषणसमर्थानि *वार्याणि* वरणीयानि धनानि *आवहन्ती* अस्मभ्यमानयन्ती *चेकिताना* सर्वं जनं प्रज्ञापयन्ती उषाः *चित्रं* विचित्रमाश्चर्यभूतं चायनीयं वा *केतुं* प्रज्ञापकं रश्मिं कृत्स्नजगत्प्रकाशनसमर्थं *कृणुते* स्वात्मनः प्रकाशात् कुरुते। सैषा *ईयुषीणाम्* गमनवतीनां पूर्वनिष्पन्नानां *शश्वतीनां* बह्वीनामुषसां *उपमा* उप समीपे निर्मितोपमानभूता वा *विभातीनां* विशेषेण प्रकाशमानानामागामिनीनाम् उषसां *प्रथमा* आद्या एवंभूतोषाः *व्यश्वैत्* तेजसा प्रवृद्धासीत्। पोष्या। 'पुष पुष्टौ'। पोषणं पोषः। भावे घञ्। तत्र भवानि। 'भवे छन्दसि' इति यत्। 'यतोऽनावः' इत्याद्युदात्तत्वम्। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः। वार्याणि। 'वृङ् संभक्तौ'। 'ऋहलोर्ण्यत्'। 'ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः' इत्याद्युदात्तत्वम्। चेकिताना।

'कित ज्ञाने'। अस्मात् यङन्तात् लटः शानच्। 'छन्दस्युभयथा' इति तस्य आर्धधातुकत्वात् अतो लोपयलोपौ। 'अभ्यस्तानामादिः' इत्याद्युदात्तत्वम्। ईयुषीणाम्। 'इण गतौ'। लिटः क्वसुः। द्विर्भावादि। 'उगितश्च' इति ङीप्। 'वसोः संप्रसारणम्'। 'इणो यण्' इति यणादेशः। 'दीर्घ इणः किति' इति अभ्यासस्य दीर्घत्वम्। 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्। ङीप्सुपौ पित्त्वादनुदात्तौ। विभातीनाम्। 'भा दीप्तौ'। अस्मात् शत्रन्तात् पूर्ववत् ङीप्। 'ङ्याश्छन्दसि बहुलम्' इति नाम उदात्तत्वम्। अश्वैत्। 'टुओश्वि गतिवृद्ध्योः'। लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। गुणे कृते व्यत्ययेन ऐत्वम्॥ १५॥

मन्त्रार्थ—उषा हमारे लिये यावज्जीवन पोषण के योग्य प्रार्थनीय धन को लाकर सब लोगों को सचेत करती हुई विचित्र अपनी किरण (रश्मि) को सम्पूर्ण जगत् के लिए प्रकाश करती है। ऐसी वह उषा व्यतीत उषाओं की उपमारूपिणी है और अगामिनी प्रकाशवती उषाओं की प्रारम्भस्वरूपिणी है। वह उषा देवी तेज से समृद्ध होकर प्रकाश करती है॥ १५॥

(उषासे मिलनेके लिए जीवात्माकी उन्मुखता—)

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ १६॥

(*पदानि*) उत्। ईर्ध्वम्। जीवः। असुः। नः। आ। अगात्। अप। प्र। अगात्। तमः। आ। ज्योतिः। एति। अरैक्। पन्थाम्। यातवे। सूर्याय। अगन्म। यत्र। प्रऽतिरन्ते। आयुः॥ १६॥

सा॰ भा॰—हे मनुष्याः! *उदीर्ध्वं* शयनं परित्यज्य उद्गच्छत। *नः* अस्माकम् *असुः* शरीरस्य प्रेरयिता *जीवः* जीवात्मा *आगात्* आगतवान्। *तमः अप प्रागात्* अपक्रान्तम्। उषसः प्रकाशे सति सर्वजीवनव्यापारयोगः। तस्मात् परमात्मरूपतया स च जीवस्तदेव *ज्योतिः आ एति* आगच्छति। *सूर्याय* सूर्यस्य *पन्थां* मार्गम् *आरैक्* विविक्तीकरोति।

यातवे गमनाय। तस्मिन् देशे *अगन्म* गच्छामः *यत्र* यस्मिन् देशे *आयुः*। अन्ननामैतत्। अन्नं *प्रतिरन्ते*। प्रपूर्वस्तिरतिर्वर्धनार्थः उदारा दानेन प्रवर्धयन्ती। ईर्ध्वम्। 'ईर गतौ'। आदादिकोऽनुदात्तेत्। अरैक्। 'रिचिर् विरेचने'। लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। गुणे व्यत्ययेन ऐत्वम्। पन्थाम्। द्वितीयायामपि 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इति व्यत्ययेन आत्वम्। अगन्म गमेर्लङि 'बहुलं छन्दसि' इति विकरणस्य लुक्। 'म्वोश्च' (पा० सू० ८।२।६५) इति मकारस्य नकारः॥ १६॥

मन्त्रार्थ—हे मनुष्यो! निद्रा का त्याग कर उठो, हममें शरीर का प्रेरक जीवात्मा जाग उठा है। उषा के प्रकाश से अन्धकार हट गया। ब्रह्मरूप होने के कारण वह जीवात्मा उषा की ज्योति को प्राप्त कर रहा है। उषा सूर्य के गमनार्थ अन्तरिक्ष मार्ग को प्रकाशित कर रही है। अब हम उस स्थान में जाते हैं जहाँ उदार बुद्धिवाले दातागण दान के द्वारा अन्न का सदुपयोग करते हैं॥ १६॥

(उषासे ऐहिक वस्तुओंकी माँग—)

स्यूमना वाच उदियर्ति वह्निः स्तवानो रेभ उषसो विभातीः।
अद्या तदुच्छ गृणते मघोन्यस्मे आयुर्नि दिदीहि प्रजावत्॥१७॥

[पदानि] स्यूमना। वाचः। उत्। इयर्ति। वह्निः। स्तवानः। रेभः। उषसः। विऽभाती। अद्य। तत्। उच्छ। गृणते। मघोनि। अस्मे। इति। आयुः। नि। दिदीहि। प्रजाऽवत्॥ १७॥

सा० भा०—*वह्निः* स्तोत्राणां वोढा। *रेभः*। स्तोतृनामैतत्। स्तोता *उषसो विभातीः* तमसोऽपनोदनेन प्रकाशमाना उषोदेवताः *स्तवानः* स्तुवन् *वाचः* वेदरूपायाः सम्बन्धीनि *स्यूमना* स्यूमानि अनुस्यूतानि संततानि उक्थानि *उदियर्ति* उद्गमयति उच्चारयति। अतो हे *मघोनि* मघवति उषः *अद्य* अस्मिन् समये *गृणते* स्तुवते तस्मै पुरुषाय *तदुच्छ*। दृष्टिनिरोधकतया प्रसिद्धं नैशं तमो विवासय वर्जय। *अस्मे* अस्मभ्यं च *प्रजावत्* प्रजाभिः पुत्रपौत्रादिभिर्युक्तम् *आयुः* अन्नं *नि दिदीहि* नितरां प्रकाशय।

दीदेतिश्छान्दसो दीप्तिकर्मा प्रयच्छेत्यर्थः। स्यूमना। 'षिवु तन्तुसन्ताने'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति दृशिग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् कर्मणि मनिन्। 'छ्वोः शूठ्' इति ऊठ्। 'आङ्याजयारां चोपसंख्यानम्' (पा० म० ७।१।३९।१)इति विभक्तेः आङादेशः। यद्वा। औणादिको भावे मक्। पामादिलक्षणो मत्वर्थीयो नः। बन्धनयुक्तानि इत्यर्थः। 'शेश्छन्दसि बहुलम्' इति शेर्लोपः। व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम्। वाचः। 'सावेकाचः' इति ङस उदात्तत्वम्। इयर्ति। 'ऋ गतौ'। जौहोत्यादिकः। 'अर्तिपिपर्त्योश्च' इति अभ्यासस्य इत्वम्। स्तवानः। 'ष्टुञ् स्तुतौ'। शानचि अदादित्वात् शपो लुक्। तस्य 'छन्दस्युभयथा' इति आर्धधातुकत्वेन ङित्त्वाभावात् गुणावादेशौ। व्यत्ययेनाद्युदात्तत्वम्। विभातीः 'शतुरनुमो नद्यजादी' इति ङीप उदात्तत्वम्। गृणते। 'गॄ शब्दे'। क्रैयादिकः। 'प्वादीनां ह्रस्वः'। पूर्वोक्तेन सूत्रेण विभक्तेरुदात्तत्वम्। अस्मे। 'सुपां सुलुक्' इति चतुर्थ्याः शेआदेशः॥ १७॥

मन्त्रार्थ—स्तुतिवाहक अर्थात् स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला स्तोता ऋत्विक् प्रकाशमान उषा की स्तुति करता हुआ वेदवाणी-सम्बन्धी उक्थ्य स्तोत्र का उच्चारण करता है। हे धनवती उषा! इस समय स्तुति करते हुए पुरुष के लिए रात्रि के अन्धकार को दूर करो और हमारे लिए पुत्र-पौत्रादि-युक्त अन्न को दो॥ १७॥

(यजमान के लिए सदाशंसा—)

या गोमतीरुषसः सर्ववीरा व्युच्छन्ति दाशुषे मर्त्याय।
वायोरिव सूनृतानामुदर्के ता अश्वदा अश्नवत्सोमसुत्वा॥ १८॥

[पदानि] याः। गोऽमतीः। उषसः। सर्वऽवीराः। विऽउच्छन्ति। दाशुषे। मर्त्याय। वायोऽइव। सूनृतानाम्। उत्ऽअर्के। ताः। अश्वऽदाः। अश्नवत्। सोमऽसुत्वा॥ १८॥

सा० भा०—दाशुषे हवींषि दत्तवते *मर्त्याय* मनुष्याय यजमानाय गोमतीः

गोमत्यो बहुभिर्गोभिर्युक्ताः सर्ववीरा सर्वैः सरणसमर्थैः वीरैः शूरैर्युक्ताः याः उषसः व्युच्छन्ति तमो वर्जयन्ति। वायोरिव वायुवच्छीघ्रम् प्रवर्तमानानां सूनृतानां स्तुतिरूपाणां वाचाम् उदर्के समाप्तौ अश्वदाः अश्वानां दात्रीः ताः उषसः सोमसुत्वा सोमानामभिषोता यजमानः अश्नवत् व्याप्नोतु॥ दाशुषे। 'दाशृ दाने'। 'दाश्वान्साह्वान्' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपात्यते। चतुर्थ्येकवचने 'वसोः संप्रसारणम्' इति संप्रसारणम्। 'शासिवसिघसीनां च' इति षत्वम्। अश्नवत्। 'अशू व्याप्तौ'। व्यत्ययेन परस्मैपदम्। लेटि अडागमः। 'इतश्च लोपः' इति इकारलोपः। सोमसुत्वा। षुञ् अभिषवे'। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति क्वनिप्। 'ह्रस्वस्य पिति' इति तुक्॥ १८॥

मन्त्रार्थ—जिसने हवि दिया है उस यजमान के लिये गौओं एवं वीरों से युक्त उषाएँ अन्धकार को दूर करती हैं। सोम का अभिषव करनेवाला यजमान स्तुतिरूप वाणी की समाप्ति होने पर अश्वों (घोड़ों) को देनेवाली उषा को प्राप्त करे॥ १८॥

(उषा की महिमा एवं प्रार्थना—)

माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती वि भाहि।
प्रशस्तिकृद्ब्रह्मणे नो व्युच्छा नो जने जनय विश्ववारे॥ १९॥

[पदानी] माता। देवानाम्। अदितेः। अनीकम्। यज्ञस्य। केतुः। बृहती। वि। भाहि। प्रशस्तिऽकृत्। ब्रह्मणे। नः। वि। उच्छ। आ। नः। जने। जनय। विश्वऽवारे॥ १९॥

सा० भा०—हे उषस्त्वं *देवानां माता* जननी। उषसि सर्वे देवाः स्तुत्या प्रबोद्ध्यन्ते अतः सा तज्जननवती इत्युच्यते। अत एव *अदितेः* देवानां मातुः *अनीकं* प्रत्यनीकम्। प्रतिस्पर्धिनी त्वमित्यर्थः। *यद्वा*। दीव्यन्तीति देवाः रश्मयः। तेषां निर्मात्री। अदितेरखण्डनीयाया भूमेरनीकं मुखम्। यथेन्द्रियाश्रयत्वात् मुखं प्रकाशकम् एवमुषाः भूमेः प्रकाशयित्रीत्यर्थः। *यज्ञस्य केतुः* केतयित्री ज्ञापयित्री *बृहती* महती सती *वि भाहि* प्रकाशस्व।

अपि च *प्रशस्तिकृत्* सम्यक् स्तुतमिति प्रशंसनम् कुर्वती नः अस्मदीयाय *ब्रह्मणे* मन्त्ररूपाय स्तोत्राय *व्युच्छ* विवासय। तदनन्तरं हे *विश्ववारे*! सर्वैर्वरणीये उषः नः अस्मान् जने जनपदे *आ जनय* आभिमुख्येन प्रादुर्भावय अवस्थापयेत्यर्थः। बृहती। 'बृहन्महतोरुपसंख्यानम्' इति ङीप उदात्तत्वम्। प्रशस्तिकृत्। 'शंसु स्तुतौ'। भावे क्तिन्। 'तितुत्र' इति इट्प्रतिषेधः। 'अनिदिताम्' इति नलोपः। तस्मिन्नुपपदे करोतेः 'क्विप् च' इति 'क्विप्। जनय। 'जनो प्रादुर्भावे'। णिचि। उपधावृद्धिः। जनीज्कृष्क्सुरञ्जोऽमन्ताश्च' इति मित्वे। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वम्॥ १६॥

मन्त्रार्थ—उषा! तुम देवताओं की जननी (माता) हो [उषःकाल मे स्तुति द्वारा देवगण जगाये जाते हैं]। इसलिये अदिति (देवमाता) से प्रतिस्पर्धा करनेवाली हो। तुम यज्ञ को प्रख्यात करनेवाली एवं महती हो, तुम प्रकाशित हो जाओ। इन्होंने मेरी भली-भाँति स्तुति की है' ऐसी प्रशंसा करती हुई तुम मन्त्ररूप स्तोत्र के लिए अन्धकार को दूर करो। हे सभी से प्रार्थनीय उषा! तुम हमें अपने देश में स्थापित करो॥ १९॥

(उषा की मंगलमय देन और उसकी याचना)

यच्चित्रमप्न उषसो वहन्तीजानाय शशमानाय भद्रम्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः॥२०॥

[पदानि] यत्। चित्रम्। अप्नः। उषसः। वहन्ति। ईजानाय। शशमानाय। भद्रम्। तत्। नः। मित्रः। वरुणः। ममहन्ताम्। अदितिः। सिन्धुः। पृथिवी। उत। द्यौः॥ २०॥

सा० भा०—चित्रं चायनीयं *अप्नः* आप्तव्यम् *यत्* धनम् *उषसो वहन्ति* आनयन्ति *ईजानाय* हविर्भिः इष्टवते *शशमानाय* स्तुतिभिः संभजमानाय पुरुषाय *भद्रं* भजनीयं *तत्* भवतीति शेषः। यदनेन सूक्तेनास्माभिः प्रार्थितं *तत्* मित्रादयः षड्देवताः *मामहन्तां* पूजितं कुर्वन्तु। अप्नः। 'आप्लृ व्याप्तौ'। 'आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा' इति बहुलग्रहणात्

अकर्माख्यायामपि असुन् 'धातोर्ह्रस्वो नुडागमश्च' । ईजानाय । यजतेश्छन्दसि लिट । 'लिटः कानज्वा' । 'वचिस्वपि' । इत्यादिना संप्रसारणम् । द्विर्वचनादि । शशमानाय । 'शश लुतगतौ' । ताच्छीलिकश्चानश् । तस्य लसार्वधातुकत्वाभावात् अदुपदेशात लसार्वधातुकस्वराभावे चित्स्वर एव शिष्यते ॥ २० ॥

इति ऋवेदे प्रथम मण्डले त्रयोदशोत्तरशततमम् उषःसूक्तं समाप्तम् ।

मन्त्रार्थ—उषाएँ संग्रहणीय एवं प्राप्तव्य सुवर्णादि धन को हवियों के द्वारा अथवा यज्ञ में की गई स्तुतियों के द्वारा सेवा करनेवाले पुरुष के लिए लाती हैं वह धन यज्ञ-सम्पादक स्तोता के लिए कल्याण कारक होता है । सारांश यह है कि—इस सूक्त के द्वारा हम लोगों से जिन वस्तुओं के लिये प्रार्थना की गयी है उन वस्तुओं को मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और आकाश—ये देवगण पूजित करें अर्थात् देवें ॥ २० ॥

[यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का ११३ वाँ सूक्त समाप्त हुआ]
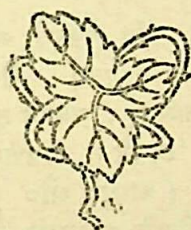
ऋग्वेद प्रथम मण्डले

विष्णुसूक्तम् * ।

[सायणभाष्य-मन्त्रार्थप्रकाशिकाख्यटीका द्वयोपेतम्]

—*—

विष्णुकी महिमा का वर्णन—

भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतद्युम्न एवया उ सप्रथाः ।
अधा ते विष्णो विदुषा चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्च राध्यो हविष्मता ॥१॥

[पदानि] भव । मित्रः । न । शेव्यः । घृतऽआसुतिः । विभूतऽद्युम्नः । एवऽयाः । ऊँ इति । सऽप्रथाः । अध । ते । विष्णो इति । विदुषा । चित् । अर्ध्यः । स्तोमः । यज्ञः । च । राध्यः । हविष्मता ॥१॥

सा० भा०—भवा मित्रः इति पञ्चर्चं सप्तदशं सूक्तं दैर्घतमसम् । 'जागतं तु' इत्युक्तत्वादिदमपि जागतम् । 'वैष्णवं हि' इत्युक्तत्वाद्वैष्णवम् । 'भव पञ्च' इत्यनुक्रान्तम् । उक्थ्ये तृतीयसवने अच्छावाकशस्त्रे एतत् सूक्तं विनियुक्तम् । 'उक्थ्ये तु होत्रकाणाम्' इति खण्डे सूत्रितं भवा मित्रः सं वां कर्मणा (आश्व० श्रौ० ६।१) इति । सौम्यचरोरुभयतो घृतेन यष्टव्यं तत्रोपरितने घृतयागे 'उरुविष्णो वि क्रमस्व' इति प्राकृता याज्या । दशमेऽहनि तु तस्याः स्थाने 'भवा मित्रः' इत्येषा प्रयोक्तव्या । दशमेऽहनि' इति खण्डे सूत्रितम्—'उरु विष्णो वि क्रमस्वेति

---

* भवा इति इति पञ्चर्चस्य सूक्तस्य दीर्घतमा ऋषिर्जगतीच्छन्दो विष्णुर्देवता उक्थ्ये तृतीयसवने अच्छावाकशस्त्रे विनियोगः ।

घृतयाज्यास्थाने 'भवा मित्रः' (आश्व० श्रौ० ८।१२) इति ।

हे *विष्णो मित्रो न* । मितेर्दुःखात् त्राता सखा आदित्यो वा मित्रः 'प्रमीतेस्त्रायते' (निरु० १०।२१) इति निरुक्तम् । तद्वत् *शंय*ः सुखे साधुः सुखकर्ता *घृतासुतिः* । घृतमुदकम् आसूयते येन सः तादृशः । यद्वा । घृतमाज्यमाभिमुख्येन नीयते यस्मै स तादृशः *विभूतद्युम्नः* प्रभूतयशाः प्रभूतान्नो वा *एवया* रक्षणस्य मिश्रयिता प्रापयिता । *सप्रथाः* सर्वतः पृथुः । प्रतिविशेषणं नः भव इति सम्बन्धः । 'द्व्यचोऽतस्तिङः' इति दीर्घः । उ इति पादपूरणः । हे *विष्णो* ! त्वं यस्मादीदृशो भवसि अध अस्मात् *ते* तव *स्तोमः* स्तोत्रविशेषः *विदुषा* त्वन्माहात्म्यवेदित्रा यजमानेन *अर्ध्यः* पुनः पुनः प्रवर्धनार्हः । एकवारकरणे न संपूर्यते इत्यर्थः । तथा ते *यज्ञश्च हविष्मता* तेन यजमानेन *राध्यः* समाराधनीयः । यद्वा । विदुषा होत्रा स्तोमो राध्यो हविष्मता यज्ञश्च राध्यः ॥ १ ॥

(*मन्त्रार्थ प्रकाशिका टीका*)

मन्त्रार्थ—हे विष्णु भगवान् ! आप सखा अथवा सूर्य की तरह हमारे लिए सुख, जल और अन्न देनेवाले तथा रक्षा करनेवाले बनें । हे भगवन्, कोई आप ऐसे प्रभावशाली हैं इसलिए आपका स्तोत्र आपके महात्म्यके जानकार यजमान के द्वारा बढ़ाने योग्य है और आपका यज्ञ भी यजमान द्वारा करने के योग्य है ॥ १ ॥

(*कीर्तन का फल*—)

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे सुमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रवोभिर्युज्य चिदभ्यसत् ॥२॥

[*पदानि*] यः । पूर्व्याय । वेधसे । नवीयसे । सुमत्ऽजानये । विष्णवे । ददाशति । यः । जातम् । अस्य । महतः । महि । ब्रवत् । सः । इत् । ऊँ इति । श्रवःऽभिः । युज्यम् । चित् । अभि । असत् ॥ २ ॥

सा० भा०—*यः* यो *मर्त्यः पूर्व्याय* पूर्वकालीनाय नित्यायेत्यर्थः। *वेधसे* त्रिविधजगत्कर्त्रे *नवीयसे* नित्यनूतनाय अत्यन्तरमणीयायेत्यर्थः। स्तुत्याय वा *सुमज्जानये* स्वयमेवोत्पन्नाय। जनेरौणादिकः इण्। 'सुमत्स्वयमित्यर्थः' (निरु० ६।२२) इति यास्कः। यद्वा। सुतरां मादयतीति सुमत्। तादृशी जाया यस्य स तथोक्तः। तस्मै सर्वजगन्मादनशीलश्रीपतये इत्यर्थः। बहुव्रीहौ 'जायाया नङ्' (पा० सू० ५।४।१३४) इति निङादेशः समासान्तः। वलि लोपः। उक्तगुणकाय *विष्णवे* व्यापकाय *ददाशति* हविरादिकं ददाति। किंच *अस्य* विष्णोः *महतः* महानुभावस्य *महि* महत् पूज्यं *जातं* जन्म उत्पत्ति हिरण्यगर्भादिरूप जन्म *ब्रवत्* ब्रूयात्। ब्रवीतेर्लेटि अडागमः। संकीर्तयेत्। *सेदु*। उशब्दोऽपिशब्दार्थः। सोऽपि दाता स्तोता च *श्रवोभिः* अन्नैः कीर्तिभिर्वा युक्तः सन् *युज्यं चित्* सर्वैर्गन्तव्यमेव तत्पदम् *अभि* आभिमुख्येन *असत्* गच्छति प्राप्नोति ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य अविनाशी समस्त संसार के रचयिता, अत्यन्त सुन्दर, सम्पूर्ण जगत् को प्रसन्न करनेवाली लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु को हवि आदि पदार्थ देता है और जो महानुभाव विष्णु के प्रशंसनीय हिरण्यगर्भादि अवतार का कीर्तन करता है वह तथा दाता और स्तुतिकर्ता ये तीनों अपनी इच्छा के अनुसार अन्न अथवा कीर्ति से युक्त होकर उस परमपद को प्राप्त करते हैं जो लक्ष्य होने के कारण सबसे लिए अवश्य प्रापणीय है ॥ २ ॥

(*स्तोता के लिए कर्तव्यनिर्देश एवं भगवत्कृपा की याचना—*)

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥३॥

[पदानि] तम्। ऊ इति। स्तोतारः। पूर्व्यम्। यथा। विद। ऋतस्य। गर्भम्। जनुषा। पिपर्तन। आ। अस्य। जानन्तः। नाम। चित्। विवक्तन। महः। ते। विष्णो इति। सुऽमतिम्। भजामहे ॥३॥

सा० भा०—हे *स्तोतारः*! *तमु* तमेव विष्णुं *पूर्व्यं* पूर्वार्हम् अनादिसं-

सिद्धम् *ऋतस्य गर्भं* यज्ञस्य गर्भभूतं यज्ञात्मनोत्पन्नमित्यर्थः । "यज्ञो वै विष्णुः" (श० ब्रा० १।१।२।१३) इति श्रुतेः । *यद्वा* । ऋतस्योदकस्य गर्भं गर्भकारणम् उदकोत्पादकमित्यर्थः 'अप एव ससर्जादौ' (मनु० १।८) इति स्मृतेः । एवंभूतं विष्णुं *यथा विद* जानीथ तथा *जनुषा* जन्मना स्वत एव न केनचिद्वरलाभादिना *पिपर्तन* स्तोत्रादिना प्रीणयत याव दस्य माहात्म्यं जानीथ तावदित्यर्थः । विदेर्लटि मध्यमबहुवचनम् । 'विद ऋतस्य' इत्यत्र संहितायाम् 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । किंच *अस्य* महानुभावस्य *विष्णोः नाम चित्* सर्वैर्नमनीयमभिधानम् सार्वात्म्यप्रतिपादकं विष्णुरित्येतन्नाम जानन्तः पुरुषार्थप्रदमधिगच्छन्तः *आ* समन्तात् *विवक्तन* वदत संकीर्तयत । *यद्वा* । नाम यज्ञात्मना नमनं विष्णोरेव सर्वेषां स्वर्गापवर्गसाधनाय इष्ट्याद्यात्मना द्रव्यदेवतात्मना वा परिणामम् आ जानन्तो यूयं विवक्तन ब्रूत स्तुत ॥ वचेर्लोटि छान्दसः शपः श्लुः । 'बहुलं छन्दसि' इति अभ्यासस्य इत्वम् । पूर्ववत् तनादेशः ॥ इदानीं साक्षात्कृत्याह । हे *विष्णो* ! सर्वात्मक देव ! *महः* महतः *ते तव सुमतिं* सुष्टुतिं शोभात्मिकां बुद्धिं वा *भजामहे* सेवामहे वयं यजमानाः ॥ ३ ॥

अग्निषोमप्रणयने 'तमस्य राजा' इत्येषा प्रयोक्तव्या । 'अग्नीषोमौ प्रणेष्यत्सु' इति खण्डे सूत्रितं - 'तमस्य राजा वरुणस्तमश्विनेत्यर्धर्चे आरमेत्' (आश्व० श्रौ० ४।१०) इति ॥

मन्त्रार्थ—हे स्तोतृगण ! आप लोग उन अनादिसिद्ध यज्ञरूप में उत्पन्न होने वाले विष्णु को जिस रूप में जानते हैं, उसी प्रकार अवतारादिविषयक स्तोत्रादिकों के द्वारा उनको प्रसन्न करें। और उन महानुभाव विष्णु के नामका उसे पुरुषार्थप्रद जानते हुए आप कीर्तन करें । हे सर्वात्मक देव, आप महान् हैं । आपकी शोभन बुद्धि का हम यजमानगण भजन [कीर्तन] करते हैं ॥ ३ ॥

(देवताओं द्वारा ऐहिक एवं आमुष्मिक फल-प्राप्ति—)

तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः ।
दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते ॥४॥

[*पदानि*] तम् । अस्य । राजा । वरुणः । तम् । अश्विना । क्रतुम् । सचन्त । मारुतस्य । वेधसः । दाधार । दक्षम् । उत्ऽतमम् । अहःऽविदम् । व्रजं च । विष्णुः । सखिऽवान् । अपऽऊर्णुते ॥ ४ ॥

सा० भा०—मारुतस्य । मरुतामृत्विजां संघातः मारुतम् । तद्वतः ॥ मत्वर्थो लुप्यते । मरुतां देवानां संबन्धिनो वा *वेधसः* मेधाविनः *अस्य* यजमानस्य *तं* प्रसिद्धं *क्रतुं* यागं यज्ञात्मकं विष्णुम् । 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः । *राजा* राजमानः *वरुणः सचन्त* सेवते । *तम्* एव क्रतुं यागम् *अश्विना* अश्विनौ सचेते । अन्येऽपि देवाः सचन्ते सेवन्ते । किंच *विष्णुः* सवनत्रयात्मना व्याप्तो विष्णुः *सखिवान्* यजमानादिसखिभिर्युक्तः सन् *उत्तमम्* उत्कृष्टतमम् *अहर्विदम्* अहर्वेत्तारं स्वर्गोत्पादकमित्यर्थः । *दक्षं* बलं फलप्रदानसामर्थ्यरूपं *दाधार* धृतवान् । किंच *व्रजं* च मेघं च । व्रज इति मेघनाम । 'व्रजः चरुः' (नि० १।१०।११) इति तन्नामसु पाठात् । तं वृष्ट्युदकाय *अपोर्णुते* अपगतावरणं करोति । आहुतिद्वारा यज्ञस्यैव वृष्ट्युत्पादकत्वात् । यद्वा । *मारुतस्य* मरुत्संघातस्य देवगणस्य *वेधसो* विधातुः स्रष्टुर्विष्णोः क्रतुं कर्म पालनादिरूपं वरुणादयः सचन्ते । तदधीनत्वात् पालनस्य । स च सखिवान् इन्द्रमरुदादिसहायोपेतः सन् उक्तलक्षणं दक्षं वृष्ट्युत्पादनादिसामर्थ्यरूपं बलं दाधार । तथा व्रजं चापोर्णुते ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—ऋत्विक्-सम्बन्धी अथवा देवसम्बन्धी मेधावी यजमान के प्रसिद्ध यज्ञरूप विष्णु का राजा वरुण, अश्विनीकुमार आदि देवगण सेवन करते हैं । यज्ञरूप विष्णु यजमानादि मित्रों से युक्त होकर स्वर्गोत्पादक बल को धारण करते हैं और वृष्टि द्वारा जल प्रदान करने के लिये मेघ को आवरण रहित करते हैं अर्थात् वर्षा के लिये बादलों को हटा देते हैं ॥ ४ ॥

(यजमानके लिए भगवान्‌का आना एवं उसे फल-प्रदान करना—)

आ यो विवाय सचथाय दैव्य इन्द्राय विष्णुः सुकृते सुकृत्तरः ।
वेधा अजिन्वत्त्रिषधस्थ आर्यमृतस्य भागे यजमानमाभजत् ॥५॥

[*पदानि*] आ । यः । विवाय । सचथाय । दैव्यः । इन्द्राय । विष्णुः । सुऽकृते । सुकृत्ऽतरः । वेधाः । अजिन्वत् । त्रिऽसधस्थः । आर्यम् । ऋतस्य । भागे । यजमानम् । आ । अभजत् ॥ ५ ॥

सा० भा०—*यः विष्णुः दैव्यः* दिवि भवः *सुकृत्तरः* शोभनफलप्रदानां मध्ये श्रेष्ठः *आ विवाय* आगच्छति । वेतेर्लिटि रूपम् । किमर्थम् । *सचथाय* सचनाय यागसहायकरणाय । कस्मै । *इन्द्राय* । इरां हविर्लक्षणान्नं द्रावयतीतीन्द्रो यजमानः । 'इन्द्र इरां दृणातीति इदं करणादित्याग्रायणः' (निरु० १०।८) इति यास्केनोक्तनिर्वचस्यात्रापि सद्भावात् । तस्मै उक्तरूपाय यजमानाय *सुकृते* शोभनस्तुतिकर्त्रे । आगत्य च *वेधाः* अभिमतफलविधाता *त्रिषधस्थः* त्रिसंख्योपेतसहस्थानवान् । सवनत्रयस्थानः क्षित्यादिस्थानत्रयो वा विष्णुः ! *आर्यम्* । आगन्तव्यम् । यजमानम् *अजिन्वत्* प्रीणयति । जिविः प्रीणनार्थः । इदित्वात् नुम् । तदर्थम् *ऋतस्य* यज्ञस्य *भागे* हुतशेषरूपे तं *यजमानम् आभजत्* भजति समीपयतीत्यर्थः । *यद्वा* । ऋतस्य यज्ञस्य भागे फले यजमानम् आभजत् स्वामित्वेन स्थापयति ॥ २६।२१ ॥

[इति ऋग्वेद-प्रथममण्डले षट्पञ्चाशदुत्तरशततमं विष्णुसूक्तं समाप्तम ।]

मन्त्रार्थ—द्युलोक में रहने वाले और फलप्रद देवताओं में श्रेष्ठ जो विष्णु हैं, वह यज्ञ की सहायता करने के लिए यज्ञ में आते हैं। और वह आकर हवि देनेवाले एवं शोभन स्तुति करनेवाले यजमान के लिए अभिलषित फल देते हैं तथा यजमान को लोकत्रयव्यापी विष्णु विविध फलों से तृप्त कर देते हैं। अतः यजमान को यज्ञफल का स्वामी बनाते हैं ॥ ५ ॥

[यह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का १५६वाँ विष्णुसूक्त समाप्त हुआ]

ऋग्वेद सप्तममण्डले

विष्णुसूक्तम् * ।

[सायणभाष्यमन्त्रार्थप्रकाशिकाख्यटीकाद्वयोपेतम्]

—०—

(विष्णु की आराधना से अभिलषित अर्थ की प्राप्ति—)

नू मर्तो दयते सनिष्यन्यो विष्णव उरुगायाय दाशत् ।
प्र यः सत्राचा मनसा यजात एतावन्तं नर्यमाविवासात् ॥१॥

[पदानि] नु । मर्तः । दयते । सनिष्यन् । यः । विष्णवे । उरुऽगायाय । दाशत् । प्र । यः । सत्राचा । मनसा । यजाते । एतावन्तम् । नर्यम् । आऽविवासात् ॥ १ ॥

सा० भा०—'नू मर्तः' इति सप्तर्चमेकादशं सूक्तं वशिष्ठस्यार्षं त्रैष्टुभं वैष्णवम् । 'नू मर्त' इत्यनुक्रान्तम् । उक्थ्ये अच्छावाकशस्त्र इदं शंसनीयम् । सूत्रितं च—'ऋतुर्जनित्री नू मर्तो भवा मित्रः' (आश्व० श्रौ० ६।१) इति ॥

सः *मर्तः* मनुष्यः *सनिष्यन्* धनमिच्छन् *नु* क्षिप्रं *दयते* धनमादत्ते । दयतिराङ्पूर्वार्थे द्रष्टव्यः *यः* । मनुष्यः *उरुगायाय* बहुभिः कीर्तनीयाय *विष्णवे दाशत्* हवींषि दद्यात् । *यः* च *सत्राचा* सहाञ्चता *मनसा* मननेन स्तोत्रेण *प्र यजाते* प्रकर्षेण पूजयेत् । *एतावन्तं* एतावत्परिमाणं महान्तं *नर्यं* नरेभ्यो हितं विष्णुम् *आविवासात्* नमस्कारादिभिः परिचरेत् । स मर्तो दयत इत्यन्वयः । *यद्वा* । सनिष्यन्निति सनतेर्भावार्थस्य लृटि रूपम् ।

---

* नू मर्त इति सप्तर्चस्य सूक्तस्य वसिष्ठ ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दो विष्णुर्देवता उक्थ्येच्छावाकशस्त्रे शंसने विनियोगः ।

स मर्तः सनिष्यन् धनादीनि लप्स्यमानो भवन्नेव हविरादिकं तु क्षिप्रं दयते विष्णवे ददातीति योऽयम् ॥ १ ॥

(मन्त्रार्थ-प्रकाशिका टीका—)

मन्त्रार्थ—जो मनुष्य बहुत लोगों से कीर्तनीय विष्णु के लिए हवि देता है, एकाग्र चित्त से स्तोत्र द्वारा विष्णु की पूजा करता है तथा महान् मनुष्यों के हितकारी विष्णु की नमस्कारादि द्वारा परिचर्या करता है, वह मनुष्य धन की इच्छा करता हुआ शीघ्र ही अभिलषित धन की प्राप्ति करता है ॥ १ ॥

(विष्णु भगवान्‌से सद्‌बुद्धि एवं सम्पत्ति की मांग—)

त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यामप्रयुतामेवयावो मतिं दाः ।
पर्चो यथा नः सुवितस्य भूरेरश्वावतः पुरुश्चन्द्रस्य रायः ॥ २ ॥

[पदानि] त्वम् । विष्णो इति । सुऽमतिम् । विश्वऽजन्याम् । अप्रऽयुताम् । एवऽयावः । मतिम् । दाः । पर्चः । यथा । नः । सुवितस्य । भूरेः । अश्वऽवतः । पुरुऽचन्द्रस्य । रायः ॥ २ ॥

सा० भा०—विष्णुदेवत्ये पशौ पुरोडाशस्य 'त्वं विष्णो' इत्यनुवाक्या । सूत्रित च 'त्वं विष्णो सुमतिं विश्वजन्यां वि चक्रमे पृथिवीमेष एताम्' (आश्व० श्रौ० ३।८) इति ।

हे *एवयावः* ! एवाः प्राप्तव्याः कामाः तान् यापयति प्रापयति स्तोतॄनित्येवयावः हे एवयावन् *विष्णो* ! *त्वं विश्वजन्यां* सर्वजनहिताम् *अप्रयुतां* दोषैर्वियुक्तां *सुमतिं* अनुग्रहबुद्धिं *दाः* अस्मभ्यं देहि । *सुवितस्य* सुष्ठु प्राप्तव्यस्य *भूरेः* बहुलस्य *अश्वावतः* अश्वयुक्तस्य *पुरुश्चन्द्रस्य* पुरूणां बहूनामाह्लादकस्य *रायः* धनस्य *पर्चः* सम्पर्कः *नः* अस्माकं *यथा* भवति तथा देहीत्यन्वयः ॥

मन्त्रार्थ—हे विष्णो ! आप स्तोतृगण के कार्यों को पूर्ण करनेवाले हैं, अतः आप हमें भी सर्वहितकारिणी एवं दोषरहित अनुग्रहबुद्धि प्रदान करें । प्राप्तव्य, अश्वों से युक्त, बहुत लोगों के आह्लादक प्रचुर धन का सम्पर्क जिस प्रकार से हो सके उतना धन हमें प्रदान करें ॥ २ ॥

(अपने उपास्य बननेके लिए विष्णुसे प्रार्थना—)

त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां वि चक्रमे शतर्चसं महित्वा ।
प्र विष्णुरस्तु तवसस्तवीयान्त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम ॥३॥

[पदानि] त्रिः । देवः । पृथिवीम् । एषः । एताम् । वि । चक्रमे । शतऽअर्चसम् । महिऽत्वा । प्र । विष्णुः । अस्तु । तवसः । तवीयान् । त्वेषम् । हि । अस्य । स्थविरस्य । नाम ॥ ३ ॥

सा० भा०—वैष्णवस्योपांशुयाजस्य 'त्रिर्देवः' इति याज्या । सूत्रितं च 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रिर्देवः पृथिवीमेष एताम्' (आश्व० श्रौ० १।६) इति । वैष्णवे पशावप्येषैव वपाया याज्या । सूत्रितं च—'त्रिर्देवः पृथिवीमेष एतां परो मात्रया तन्वा वृधान' (आश्व० श्रौ० ३।८) इति ॥

एषः देवः दानादिगुणयुक्तो विष्णुः *शतर्चसं* शतसंख्यान्यर्चींषि यस्यास्तादृशीम् *एतां पृथिवीम्* । उपलक्षणमेतत् । पृथिव्यादींस्त्रींल्लोकान् *महित्वा* महत्त्वेन *त्रिः वि चक्रमे* त्रिभिः पदैर्विक्रान्तवान् । *तवसः* तवस्विनो वृद्धादपि *तवीयान्* तवस्वितरः *विष्णुः प्र अस्तु* अस्माकं प्रभवतु स्वामी भवतु । *अस्य स्थविरस्य* वृद्धस्य विष्णोः *नाम* नामकं रूपं विष्णुरित्येतन्नामैव वा *त्वेषं हि* यस्माद्दीप्तं तस्मात्कारणात् स विष्णुः प्रभवत्वित्यर्थः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—दानादिगुणयुक्त एवं असंख्य तेजों से युक्त विष्णुने अपने महत्त्व से पृथिव्यादि लोकत्रय को तीन पैरों से नाप लिया था । वह विष्णु जो कि वृद्धों से वृद्धतर हैं वह हमारे स्वामी बनें । उन विष्णु के स्थविर (वृद्ध) रूप अथवा विष्णु यह नाम जिस कारण विशेष तेजस्वी हैं, वह विष्णु हमारे प्रभु (स्वामी) बनें ॥

(विष्णु भगवान् द्वारा भक्तोंकी याचना-पूर्ति का उदाहरण—)

वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षितिं सुजनिमा चकार ॥४॥

[पदानि] वि । चक्रमे । पृथिवीम् । एषः । एताम् । क्षेत्राय । विष्णुः । मनुषे । दशस्यन् । ध्रुवासः । अस्य । कीरयः । जनासः । उरुऽक्षितिम् । सुऽजनिमा । चकार ॥ ४ ॥

सा० भा०—पूर्वोक्त एव पशौ 'वि चक्रमे' इति वपाया अनुवाक्या । सूत्रितं च—'वि चक्रमे पृथिवीमेष एतां त्रिर्देवः पृथिवीमेष एताम' (आश्व० श्रौ० ३.८) इति ॥

एषः देवः विष्णुः *एतां पृथिवीं* पृथिव्यादीनिमाँल्लोकान् *क्षेत्राय* निवासार्थं *मनुषे* स्तुवते देवगणाय *दशस्यन्* असुरेभ्योऽपहृत्य प्रदास्यन् *वि चक्रमे* विक्रान्तवान् । *अस्य* च विष्णोः *कीरयः* स्तोतारः *जनासः* जनाः *ध्रुवासः* निश्चला भवन्ति । ऐहिकामुष्मिकयोर्लाभेन स्थिरा भवन्तीत्यर्थः । *सुजनिमा* शोभनानि जनिमानि कीर्तनस्मरणादिना सुखहेतुभूतानि यस्य तादृशो विष्णुः *उरुक्षितिं* विस्तीर्णनिवासं *चकार* स्तोतृभ्यः करोति ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—विष्णु ने देवताओं को देने के लिये तथा उनके निवास के लिये पृथिवी आदि तीनों लोकों को असुरों से छीन कर अपने पादत्रय का विक्षेप किया था । उन विष्णु की स्तुति करनेवाले लोग निश्चल स्वर्गादि फल की प्राप्ति करते हैं । जिनका अवतार कीर्तन-स्मरणादि के द्वारा सुख देने वाला है वह विष्णु स्तोताओं को विस्तीर्ण निवासस्थान देते हैं ॥ ४ ॥

(*नाम-महत्त्व*—)

प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्यः शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान्क्षयन्तमस्य रजसः पराके ॥ ५ ॥

[पदानि] प्र । तत् । ते । अद्य । शिपिऽविष्ट । नाम । अर्यः । शंसामि । वयुनानि । विद्वान् । तम् । त्वा । गृणामि । तवसम् । अतव्यान् । क्षयन्तम् । अस्य । रजसः । पराके ॥ ५ ॥

सा० भा०—तृतीयसवनेऽतिरात्रादूर्ध्वं सोमातिरेके सति नैमित्तिके

होतुः शस्त्रे 'प्र तत्ते अद्य' इति स्तोत्रियस्तृचः (आश्व० श्रौ० ६।७)। अभ्युदयेष्टौ विष्णोः शिपिविष्टस्य 'प्र तत्ते अद्य' इति याज्या। सूत्रितं च—'वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि प्र तत्ते अद्य शिपिविष्ट नाम' (आश्व० श्रौ० १।१३) इति ॥ ४ ॥

हे शिपिविष्ट! रश्मिभिराविष्ट विष्णो! ते तव तत् प्रसिद्धं विष्णुरिति प्रख्यातं *नाम अर्यः* स्वामी स्तुतीनां हविषां वा तथा *वयुनानि* ज्ञातव्यान्यर्थजातानि *विद्वान्* जानन्नहम *अद्य* इदानीं *प्र शंसामि* प्रकर्षेण स्तौमि। *तवसं* प्रवृद्धं *तं त्वा* त्वां विष्णुम् *अतव्यान्* अतवीयानवृद्धतरोऽहं *गृणामि* स्तौमि। कीदृशम्। *अस्य रजसः* लोकस्य *पराके* दूरदेशे *क्षयन्तं* निवसन्तम् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—हे शिपिविष्ट अर्थात् रश्मियों से घिरे हुए विष्णो! आपका विष्णु यह नाम स्तुति अथवा हवियों का स्वामी है। और मैं इस समय ज्ञातव्य पदार्थों को जानता हुआ आपकी प्रशंसा करता हूँ। आप वृद्धतम हैं एवं इस लोक से दूर प्रदेश में निवास करते हैं। मैं तो अवृद्धतर हूँ। फिर भी मैं आपकी स्तुति करता हूँ ॥ ५ ॥

(शिपिविष्ट इस नाम के दो अर्थ—)

किमित्ते विष्णो परिचक्ष्यं भूत्प्र यद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि।
मा वर्पो अस्मदप गूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥ ६ ॥

[पदानि] किम्। इत्। ते। विष्णो इति। परिऽचक्ष्यम्। भूत्। प्र। यत्। ववक्षे। शिपिऽविष्टः। अस्मि। मा। वर्पः। अस्मत्। अप। गूहः। एतत्। यत्। अन्यऽरूपः। सम्ऽइथे। बभूथ ॥ ६ ॥

सा० भा०—पुरा खलु विष्णुः स्वं रूपं परित्यज्य कृत्रिमं रूपान्तरं धारयन् संग्रामे वसिष्ठस्य साहाय्यं चकार। तं जानन्नृषिरनया प्रत्याचष्टे। अत्र निरुक्तं 'शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः। कुत्सितार्थीयं पूर्वं भवतीत्यौपमन्यवः। किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवत्यप्रख्यापनीयं यन्नः प्रब्रूषे शेप इव निर्वेष्टितोऽस्मीत्यप्रतिपन्नरश्मिः। अपि वा

प्रशंसानामैवाभिप्रेतं स्यात् । किं ते विष्णो प्रख्यातमेतद्भवति प्रख्यापनीयं यदुत प्रब्रूषे शिपिविष्टोऽस्मीति प्रतिपन्नरश्मिः । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति । मा वर्पो अस्मदप गूह एतत् । वर्प इति रूपनाम वृणोतीति सतः । यदन्यरूपः समिथे संग्रामे भवसि संयतरश्मिः (निरु० ५।७।८) इति । तत्र कुत्सितार्थपक्षे योजना ।

हे *विष्णो* ! *ते* तव तन्नाम *किं परिचक्ष्यं* प्रख्यापनीयं *भूत्* भवति किं-शब्दः क्षेपे । अप्रख्यापनीयमेव तद्भवति । *यत्* नामास्मभ्यं *प्र ववक्षे* प्रब्रूषे *शिपिविष्टोऽस्मि* इति । अन्तर्णीतोपमानमेतत् । शेप इव निर्वेष्टितस्तेज-सानाच्छादितो भवामीति । तदश्लीलार्थत्वादिदं नाम न प्रशस्तमि-त्यर्थः । तन्नाम किं परिचक्ष्यं वर्जनीयं परित्याज्यम् । विरुद्धार्थप्रति-पादकत्वात् स्वत एव परित्यक्तं हि तत् । शिष्टं समानं पूर्वेण । अत उक्तरूपविलक्षणं यद्वैष्णवरूपमस्ति *एतत् वर्पः* रूपम् *अस्मत्* अस्माकं *मा अप गूहः* अपगूढं संवृतं *मा* कुरु । 'गुहू सवरणे' । अपि तु तदेव रूपं प्रकटय । वैष्णवस्य रूपस्य गूहने का प्रसक्तिरिति चेत् । *यत्* यस्मात् *अन्यरूपः* रूपान्तरमेव धारयन् *समिथे* संग्रामे *बभूथ* अस्माकं सहायो भवसि तस्मादिद गूहनं न कार्यमिति ।

प्रशंसापक्षे तु—

हे *विष्णो ! ते* तव तन्नाम *किं परिचक्ष्यं भूत्* किं प्रख्यापनीयं भवति । न प्रख्यापनीयम् । *किं* तन्नाम *शिपिविष्टो* रश्मिभिराविष्टोऽस्मीति यन्नाम प्रब्रूषे । यत एवं प्रख्यातरूपस्त्वमतोऽस्माकमेतद्वैष्णवं रूपं सवृतं मा कार्षीः । इदानीं गूढरूपोऽपि यद्यस्मात्त्वं *समिथे* संग्रामेऽन्यरूपः कृत्रि-मरूपं यदन्यद्वैष्णवं रूपं शौर्यादिलक्षणं तादृग्रूप एव *बभूथ* भवसि तस्मात्त्वं गूढोऽपि ज्ञायस एवेति व्यर्थमेव तस्य रूपस्य गूहनम् । अतो बहुतेजस्कं यद्वैष्णवं रूपं तदस्माकं प्रदर्शयेति तात्पर्यार्थः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—विष्णु ने प्रथम अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर कृत्रिम रूप को धारण कर संग्राम में वसिष्ठ जी की सहायता की थी, इस वृत्तान्त को जानते हुए वशिष्ठ ऋषि कहते हैं—निरुक्त के

अनुसार विष्णु का 'शिपिविष्ट' यह नाम कुत्सार्थक और प्रशंसार्थक है।

(१) प्रशंसार्थक पक्ष में—हे विष्णो ! आप शिपिविष्ट अर्थात् मनुष्य के प्रजनन की तरह बाल रश्मियों से अनाच्छादित हैं, यह अपना नाम जो हम से बतलाते हैं, सो अश्लीलार्थक होने के कारण आपका यह नाम त्याज्य है। आपका जो अन्य वैष्णवरूप है उसे हमसे मत छिपाइये। आप संग्राम काल में जो रूप धारण करते हैं-उसे हमें दिखाइये।

(२) प्रशंसार्थक पक्ष में—हे विष्णो ! आपका 'शिपिविष्ट' यह नाम क्या प्रकाशनीय है, जो कि आप अपने को 'शिपिविष्ट' कहते हैं ? जिस कारण आप जगद्विख्यात हैं और जिस कारण आप संग्राम में अन्य तेजस्वी रूप धारण करते हैं, उस वास्तविक वैष्णव रूप को हमें दिखाइये ॥ ६ ॥

(हवि ग्रहण एवं अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना—)

वषट् ते विष्णवास आ कृणोमि तन्मे जुषस्व शिपिविष्ट हव्यम् ।
वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयो गिरो मे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

[पदानि] वषट् । ते । विष्णो इति । आसः । आ । कृणोमि । तत् । मे । जुषस्व । शिपिऽविष्ट । हव्यम् । वर्धन्तु । त्वा । सुऽस्तुतयः । गिरः । मे । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ७ ॥

सा० भा—व्याख्यातेयम् । हे विष्णो ! *ते* तुभ्यम् *आसः* आस्यात् *आ* अभिमुखं *वषट् कृणोमि* करोमि । वषट्कारेण हविर्ह्रावयामि । हे *शिपिविष्ट* शिपयो रश्मयः । तैराविष्ट विष्णो *तत्* वषट्कृतं *मे* मदीयं *हव्यं* हविः *जुषस्व* सेवस्व । *सुष्टुतयः* शोभनस्तुत्यात्मिकाः *गिरः* वाचश्च *त्वा* त्वां *वर्धन्तु* वर्धयन्तु । अन्यद्गतम् ॥ (ऋ० ७ मं०, ६६ सू०)
अक्षरार्थस्तु । हे *विष्णो !* तुभ्यमास्यादास्येन वषट्करोमि । वषट्कृतं

तन्मदीयं हविर्हे शिपिविष्ट सेवस्व । शोभनस्तुतिरूपा मदीया वाचश्च त्वां वर्धयन्त्विति । शिष्टः पादः सिद्धः ॥

[इति ऋग्वेदसप्तममण्डले शततमं विष्णुसूक्तं समाप्तम् ।]

मन्त्रार्थ—हे विष्णो ! मैं आपके लिये मुख से मन्त्रोच्चारण करता हुआ हवि देता हूँ । हे शिपिविष्ट ! आप मुझसे दिये हुए उस हवि का सेवन करें । मेरी स्तुतिरूपा वाणी आपको बढ़ावे अर्थात् प्रसन्न करे । आप विविध कल्याणों अथवा अन्नों के द्वारा हमारी रक्षा करें ॥ ७ ॥

[यह ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का १०० वाँ विष्णुसूक्त समाप्त हुआ ।]
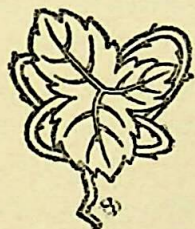
अथर्ववेदद्वादशकाण्डे

पृथिवीसूक्तम्

[गायत्रीभाष्य-मन्त्रार्थप्रकाशिकाख्यटीकाद्वयोपेतम्]

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

पदानि—सत्यम् । बृहत् । ऋतम् । उग्रम् । दीक्षा । तपः । ब्रह्म । यज्ञः । पृथिवीं । धारयन्ति । सा । नः । भूतस्य । भव्यस्य । पत्नी । उरुम् । लोकम् । पृथिवी । नः । कृणोतु ॥ १ ॥

गा० भा०—सत्यं त्रिकालावस्थायि बृहत् महत् ऋतम् ब्रह्म परमेश्वरः दीक्षा यज्ञादिनियमः उग्रं कष्टसाध्यं तपः चान्द्रायणादि, यज्ञः अग्निष्टोमादिः, एते पृथिवीं भूमिं धारयन्ति । उक्तञ्च "सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन वर्द्धते तपः" इत्यादि । सः (पुंस्त्वं छान्दसम्) सा भूतस्य उत्पन्नस्य प्राणिजातस्य भव्यस्य उत्पत्स्यमानस्य च पत्नी पालयित्री पृथिवी नोऽस्माकम् लोकं निवासस्थानम् उरु विस्तीर्णं कृणोतु करोतु ॥ १ ॥

❀ मन्त्रार्थप्रकाशिकाटीका ❀

तीनों कालों में रहने वाले सत्य, महान् ऋत, ब्रह्म (परमेश्वर) नियम, चान्द्रायणादि उग्र तप और अग्निष्टोमादि श्रौत-स्मार्त यज्ञ-ये सभी पृथिवी को धारण करते हैं । वह उत्पन्न और उत्पन्न होनेवाले प्राणियों की रक्षा करनेवाली पृथिवी हमारे निवासस्थल को विस्तीर्ण करे ॥ १ ॥

---

१ पृथिवीसूक्तस्य अथर्वाऋषिः भूमिर्देवता । छन्दांसि पृथक् पृथक् मदीय-भूमिकायां द्रष्टव्यानि । विनियोगस्तु महर्षिणा सायणेन पृथिवीसूक्तोपक्रमे सर्वेषां मन्त्राणामुक्त एव । सोऽपि भूमिकायां द्रष्टव्यः ।

असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः ॥२॥

पदानि—असम्ऽबाधम् । मध्यतः । मानवानाम् । यस्याः । उत्ऽवतः । प्रऽवतः । समम् । बहु । नानाऽवीर्याः । ओषधीः । या । बिभर्ति । पृथिवी । नः । प्रथताम् । राध्यताम् । नः ॥ २ ॥

गा० भा०—असंबाधं सर्वबाधारहितं मानवानां मनुष्याणां मध्यतः समक्षं यस्याः पृथिव्याः उद्वतः उन्नतं प्रवतः प्रकृष्टं निम्नम् समञ्च स्थानं वर्तते । या पृथिवी नानावीर्या नानावीर्याणि ओषधीः व्रीहि-यवाद्याः बिभर्ति धारयति, सा नोऽस्माकं कृते प्रथताम् विस्तीर्णा भवतु । किञ्च नोऽस्माकं कार्याणि राध्यताम् साध्नोतु ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वबाधारहित मनुष्यों के समक्ष पृथिवी के उन्नत, निम्न और सम प्रदेश हैं । जो पृथिवी नाना प्रकार की शक्तियों और औषधियों को धारण करती है, वह हमारे लिये विस्तीर्ण हो तथा हमारे कार्यों को सिद्ध करे ॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥३॥

पदानि—यस्याम् । समुद्रः । उत । सिन्धुः । आपः । यस्याम् । अन्नम् । कृष्टयः । सम्ऽबभूवुः । यस्याम् । इदम् । जिन्वति । प्राणत् । एजत् । सा । नः । भूमिः । पूर्वऽपेये । दधातु ॥ ३ ॥

गा० भा०—यस्यां पृथिव्यां समुद्रः सिन्धुः उत अपि च नदीसमुदायः आपः जलानि अन्नम् अदनीयम् कृष्टयः मनुष्याः संबभूवुः उत्पन्नानि । किञ्च यस्यां पृथिव्याम् इदं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् प्राणत् प्राणधारणं करोति एजत् चेष्टते च सा भूमिः नोऽस्मभ्यम् पूर्वपेये (प्रथमार्थे सप्तमी) श्रेष्ठपेये क्षीरादिपदार्थजातम् दधातु ददातु (दधातेर्दानार्थे वृत्तिः) ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी में समुद्र, नदियाँ, जल, अन्न और पाँच प्रकारके (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज) मनुष्य उत्पन्न हुए हैं, जिस

पृथिवी में यह स्थावर, जङ्गम जगत् प्राण धारण करता है और चेष्टित होता है वह भूमि हमें श्रेष्ठ पेय (पीने के योग्य) क्षीरादि पदार्थ दे ॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः। या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥४॥

पदानि—यस्याः। चतस्रः। प्रऽदिशः। पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्। कृष्टयः। सम्ऽबभूवुः। या। बिभर्ति। बहुऽधा। प्राणत्। एजत्। सा। नः। भूमिः। गोषु। अपि। अन्ने। दधातु ॥ ४ ॥

गा० भा०—यस्याः पृथिव्याः सकाशात् चतस्रः प्रदिशः पूर्वाद्या दिशः तथा अन्नं व्रीहि-यवादिकम् कृष्टयो मनुष्याः संबभूवुः उत्पद्यन्तेस्म। या भूमिः बहुधा बहु एजत् प्रकारेण प्राणत् प्राणिजातम् चेष्टमानम् बिभर्ति सा भूमिः नोऽस्मभ्यं गोषु अपि च अन्ने (उभयत्र प्रथमार्थे सप्तमी) गाः अन्नञ्च दधातु ददातु ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी से पूर्वादि चारों दिशाएँ, व्रीहि-यवादि अन्न और पाँच प्रकार के (ब्राह्मण,-क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज) मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। जो पृथिवी नानाप्रकार से चेष्टमान प्राणियों का धारण तथा पोषण करती है, वह भूमि हमें गौएँ और अन्न दे ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

पदानि—यस्याम्। पूर्वे। पूर्वऽजनाः। विचक्रिरे। यस्याम्। देवाः। असुरान्। अभिऽअवर्तयन्। गवाम्। अश्वानाम्। वयसः। च। विऽस्था। भगम्। वर्चः। पृथिवी। नः। दधातु ॥ ५ ॥

गा० भा०—यस्यां पृथिव्याम् पूर्वे पुरातनाः पूर्वजनाः अस्मत्पूर्वजाः पौरुषं विचक्रुः विविधं कृतवन्तः। यस्यां पृथिव्यां देवा इन्द्रादयः असुरान् बलिप्रभृतीन् अभ्यवर्तयन् पराजितवन्तः। गवाम् अश्वानाम् वयसः पक्षिणश्च या विष्ठा प्रतिष्ठा आधारभूता सा पृथिवी भगम् षड्विधैश्वर्यम्

("ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणाः" ॥) वर्चः तेजः नोऽस्मभ्यं दधातु ददातु ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी पर हमारे प्राचीन पूर्वजों ने पुरुषार्थ किया था। जिस पृथिवी पर इन्द्रादि देवगणों ने बलि प्रभृति असुरों को पराजित किया था। जो पृथिवी गौएँ, घोड़े और पक्षिगण की प्रतिष्ठा एवं आधार-रूपा है, वह पृथिवी हमें छ प्रकार के ऐश्वर्य और तेज प्रदान करे ॥ ५ ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥६॥

पदानि—विश्वम्ऽभरा। वसुऽधानी। प्रतिऽस्था। हिरण्यऽवक्षाः। जगतः। निऽवेशनी। वैश्वानरम्। विभ्रती। भूमिः। अग्निम्। इन्द्रऽऋषभा। द्रविणे। नः। दधातु ॥ ६ ॥

सा० भा०—विश्वम्भरा विश्वं जगत् विभर्तीति जगद्धारण—पोषणकर्त्री वसुधानी वसूनां हिरण्यादिधनानां धारणकर्त्री प्रतिष्ठा सर्वाश्रयभूता हिरण्यवक्षाः हिरण्यादीनीं निधयो वक्षसि यस्याः सा तथोक्ता जगतः स्थावरजङ्गमात्मकप्राणिसमुदायस्य निवेशनी आश्रयभूता वैश्वानरं सर्वजन-हितकारिणमग्निं विभ्रती दधती इन्द्रः परमेश्वरो वराहरूपधारी यस्या ऋषभाः (विभक्तिव्यत्ययः) ऋषभः स्वामी सा भूमिः नोऽस्मभ्यम् द्रविणे (प्रथमार्थे सप्तमी) धनं दधातु ददातु ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ—जो पृथिवी सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली, हिरण्यादि धन को धारण करने वाली, सब को आश्रय देनेवाली, सुवर्ण आदि की खानों को अपने वक्षस्थल में रखनेवाली, स्थावर-जङ्गम जगत् को यथोचित स्थान में रखनेवाली तथा वैश्वानर अग्नि को धारण करनेवाली है और जिसके वराह भगवान् पति हैं, वह पृथिवी हमें धन दे ॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥७॥

पदानि—याम्। रक्षन्ति। अस्वप्नाः। विश्वऽदानीम्। देवाः। भूमिम्।

पृथिवीम्। अप्रऽमादम्। सा। नः। मधु। प्रियम्। दुहाम्। अथो इति। उक्षतु। वर्चसा ॥ ७ ॥

गा० भा०—यां विश्वदानीं विश्वस्य जगतः आश्रयदात्रीं पृथिवीं विस्तीर्णां भूमिम् अप्रमादम् प्रमादरहितं यथात्स्यात्तथा अस्वप्नाः देवाः रक्षन्ति सा भूमिः नोऽस्मभ्यं मधु मधुरं प्रियं हृद्यं पयः दुहाम् दोग्धु गोद्वारा ददातु ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—जो पृथिवी सम्पूर्ण संसार को आश्रय देने वाली विस्तीर्ण है और जिसकी देवगण सावधान होकर रक्षा करते हैं, वह पृथिवी हमें गौओं के द्वारा मधुर और प्रिय दुग्ध दे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिन्वचरन् मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

पदानि—या। अर्णवे। अधि। सलिलम्। अग्रे। आसीत्। याम्। मायाभिः। अनुऽअचरन्। मनीषिणः। यस्याः। हृदयम्। परमे। विऽओमन्। सत्येन। आऽवृतम्। अमृतम्। पृथिव्याः। सा। नः। भूमिः। त्विषिम्। बलम्। राष्ट्रे। दधातु। उत्ऽतमे ॥ ८ ॥

गा० भा०—सा (यदः स्थाने तच्छब्दप्रयोगः) या भूमिः अग्रे सृष्ट्यादौ अर्णवे समुद्रे सलिलमधि जलोपरि विराजमाना आसीत्। मनीषिणः विद्वांसः मनुप्रभृतयः यां भूमिं मायाभिः स्वप्रभावैः अन्वचरन् अन्वशासन्। यस्याः पृथिव्याः हृदयं सत्येनावृत सत् परमे व्योमन् महति व्योमनि परब्रह्मणि अधिष्ठितम् सा भूमिः नोऽस्माकम् उत्तमे राष्ट्रे भारतवर्षे त्विषिं तेजः बलं वीर्यञ्च दधातु स्थापयतु ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जो पृथिवी सृष्टि के आदि में समुद्र में जल के ऊपर विराजमान थी, जिस पृथिवी का मनु-प्रभृति विद्वद्गणों ने अपने तप के प्रभाव से अनुशासन किया था, जिस पृथिवी का हृदय सत्य से आवृत होकर परब्रह्म से अधिष्ठित है, वह पृथिवी हमारे उत्तम राष्ट्र (भारतवर्ष) में तेज और बल स्थापित करे ॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

पदानि—यस्याम्। आपः। परिऽचराः। समानीः। अहोरात्रे इति। अप्रऽमादम्। क्षरन्ति। सा। नः। भूमिः। भूरिऽधारा। पयः। दुहाम्। अथो इति। उक्षतु। वर्चसा ॥ ९ ॥

गा० भा०—यस्यां भूमौ आपः अपामाधारभूता नद्यः परिचराः सर्वतः स्यन्दमानाः समानीः समान्यः स्वभावतः अहोरात्रे रात्रिन्दिवं क्षरन्ति वहन्ति सा भूरिधारा बहुप्रवाहयुक्ता भूमिः नोऽस्मभ्यं पयः दुहाम् दुग्धाम्, अथो अपि च वर्चसा तेजसा अस्मान् उक्षतु उक्षतां सिञ्चतु ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ—जिस भूमिपर जल की आधारभूता नदियाँ सर्वत्र स्वभावतः रात्रिन्दिवा बहा करती हैं, वह अनेक धाराओं से युक्त भूमि हमें पय (दुग्ध) दे और तेज से युक्त करे ॥ ९ ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्विसृजतां पुत्राय मे पयः ॥१०॥

पदानि—याम्। अश्विनौ। अमिमाताम्। विष्णुः। यस्याम्। विऽचक्रमे। इन्द्रः। याम्। चक्रे। आत्मने। अनमित्राम्। शचीपतिः। सा। नः। भूमिः। वि। सृजताम्। माता। पुत्राय। मे। पयः ॥ १० ॥

गा० भा०—याम् अश्विनौ देवौ अमिमाताम् निर्मितवन्तौ, यस्यां विष्णुर्वामनावतारं धृत्वा विचक्रमे विविधं पादविक्षेपं कृतवान्, शचीपतिः इन्द्रः आत्मने स्वहिताय याम् अनमित्रां शत्रुरहितां चक्रे कृतवान् नोऽस्माकं माता मातृवन्माननीया सा भूमिः मे मम पुत्राय पयः दुग्धं विसृजताम् ददातु ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—जिस भूमि को अश्विनीकुमार ने बनाया है, जिसके ऊपर विष्णु भगवान् ने वामनावतार धारण कर पादविक्षेप किया है और जिस

भूमि को शचीपति इन्द्र ने अपने हितार्थ शत्रुरहित किया है, वह माता की तरह माननीया भूमि हमारी सन्तति के लिये दुग्ध दे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु ।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥११॥

पदानि—गिरयः । ते । पर्वताः । हिमऽवन्तः । अरण्यम् । ते । पृथिवी । स्योनम् । अस्तु । बभ्रुम् । कृष्णाम् । रोहिणीम् । विश्वऽरूपाम् । ध्रुवाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । इन्द्रऽगुप्ताम् । अजीतः । अहतः । अक्षतः । अधि । अस्थाम् । पृथिवीम् । अहम् ॥ ११ ॥

सा० भा०—हे पृथिवि ! ते तव त्वत्सम्बन्धिनः गिरयः क्षुद्रपर्वताः हिमवन्तः हिमयुक्ताः पर्वताः महान्तो हिमालयादयः अरण्यम् वनम् एते स्योनमस्तु (वचनव्यत्ययः) स्योनानि अस्माकं सुखकारिणः सन्तु । बभ्रुं कचित् पिङ्गलवर्णां कृष्णां कचित् श्यामवर्णां रोहिणीं कचित् रक्तवर्णां पृथिवीं स्वभावतोऽतिविस्तीर्णाम् इन्द्रगुप्तां परमेश्वरपालितां भूमिं केनापि शत्रुणा अजीतः अजितः अहतः अहिंसितः अक्षतः अकृतव्रणः सन् अहम् अध्यष्ठाम् अधिष्ठितवान् पृथिवीशब्दस्याभ्यासोऽतिशयार्थः "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" इति यास्कोक्तेः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुमसे सम्बन्धित क्षुद्र पर्वत, हिमयुक्त हिमालयादि महापर्वत और जङ्गल-ये सभी हमारे लिये सुखकारी हों । परमेश्वर से पालित विस्तीर्ण भूमि जो कि स्वभावतः कहीं पिङ्गलवर्ण वाली, कहीं श्यामवर्ण वाली, और कहीं रक्तवर्ण वाली है, उस पृथिवी पर हम अजित, अक्षत होकर निवास करें ॥ ११ ॥

यत् ते मध्यं पृथिवी यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि न पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥१२॥

पदानि—यत् । ते । मध्यम् । पृथिवी । यत् । च । नभ्यम् । याः । ते । ऊर्जः । तन्वः । सम्ऽबभूवुः । तासु । नः । धेहि । अभि । नः । पवस्व । माता । भूमिः । पुत्रः । अहम् । पृथिव्याः । पर्जन्यः । पिता । स । ॐ इति । नः । पिपर्तु ॥ १२ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! ते तव यत् मध्यं स्थानम् यच्च नभ्यं सुगुप्तो नाभिप्रदेशः ते तव तन्वः शरीरस्य याः ऊर्जः पोषकान्नरसाः तासु नोऽस्मान् धेहि; नोऽस्मान् पवस्व पावय । भूमिः माता जगन्निर्मात्री अहं पृथिव्याः पुत्रः, पर्जन्यः पिता पालयिता, स उ एव नोऽस्मान् पिपर्तु पालयतु ॥१२॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम्हारा जो मध्यस्थान तथा सुगुप्त नाभिस्थान एवं तुम्हारे शरीर–सम्बन्धी जो पोषक अन्नरसादि पदार्थ हैं उनमें हमें धारण करो और हमें शुद्ध करो । भूमि हमारी माता है, हम पृथिवी के पुत्र हैं । मेघ हमारे पिता अर्थात् पालक हैं, वह हमारी रक्षा करें ॥१२॥

यस्या वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।
सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥१३॥

पदानि—यस्याम् । वेदिम् । परिऽगृह्णन्ति । भूम्याम् । यस्याम् । यज्ञम् । तन्वते । विश्वऽकर्माणः । यस्याम् । मीयन्ते । स्वरवः । पृथिव्याम् । ऊर्ध्वाः । शुक्राः । आऽहुत्याः । पुरस्तात् । सा । नः । भूमिः । वर्धयत् । वर्धमाना ॥१३॥

गा० भा०—विश्वकर्माणः "यज्ञाद्भवति पर्जन्यः" इत्यादिगीतोक्त्यनुसारेण जगन्निर्मातारः ऋत्विग्यजमानाः यस्यां भूम्यां वेदिं परिगृह्णन्ति कुर्वन्ति यज्ञञ्च तन्वते विस्तारयन्ति । यस्यां पृथिव्याम् आहुत्याः पुरस्तात् ऊद्र्ध्वाः उन्नताः शुक्राः मनोहराः स्वरवः यज्ञस्तम्भाः मीयन्ते निखन्यन्ते सा भूमिः वद्र्धमाना समृद्धा सती नोऽस्मान् वद्र्धयत् धन-पुत्रादिभिर्वर्धयेत् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—"यज्ञाद्भवति पर्जन्यः" इत्यादि गीता के अनुसार विश्वकर्मा अर्थात् जगत् के निर्माणकर्ता ऋत्विक् और यजमान जिस पृथिवी पर वेदी बनाते हैं एवं यज्ञ करते हैं । जिस पृथिवी पर आहुति प्रक्षेप से पहले उन्नत और

मनोहर यज्ञस्तम्भ गाड़े जाते हैं वह पृथिवी धन-धान्यों से समृद्ध होकर हमें धन-पुत्रादि प्रदान द्वारा समृद्ध करें ॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत् यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन ।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥१४॥

पदानि—यः । नः । द्वेषत् । यः । पृतन्यात् । यः । अभिऽदासात् । मनसा । यः । वधेन । तम् । नः । भूमे । रन्धय । पूर्वऽकृत्वरि ॥ १४ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! यः शत्रुः नोऽस्मान् द्वेषत् द्विष्यात् यश्च पृतन्यात् अस्माभिः सह पृतनां संग्राममिच्छेत्, यः अस्मान् मनसाऽभिदासात् अभिदासेत् हिंसितुमिच्छेत्, यः वधेन वधं कर्तुमुद्युक्तः नोऽस्माकं तं सर्वं शत्रुं हे पूर्वकृत्वरि भूमे रिपुसंहारिणि भूमे ! रन्धय विनाशय ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! जो शत्रु हमसे द्वेष करें या जो हमारे साथ संग्राम करें अथवा जो हमें मारने की इच्छा करें तथा जो हमारा वध करने के लिये उद्यत हों हे शत्रुसंहारिणि पृथिवि ! उन सभी शत्रुओं का तुम विनाश करो ॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं
मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥१५॥

पदानि—त्वत् । जाताः । त्वयि । चरन्ति । मर्त्याः । त्वम् । बिभर्षि । द्विऽपदः । त्वम् । चतुःपदः । तव । इमे । पृथिवि । पञ्च । मानवाः । येभ्यः । ज्योतिः । अमृतम् । मर्त्येभ्यः । उत्ऽयन् । सूर्यः । रश्मिभिः । आऽतनोति ॥१५॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! त्वत् त्वत्तो जाता मर्त्याः त्वयि चरन्ति । त्वं द्विपदः मनुष्यान् चतुष्पदः पशून् बिभर्षि धारयसि । हे पृथिवि ! इमे पञ्च मानवाः पञ्चविधाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषादाः मनुष्याः तव त्वत्सम्बन्धिनः सन्ति येभ्यो मर्त्येभ्यः उद्यन् सूर्यः स्वरश्मिभिः स्वकिरणैर्ज्योतिः प्रकाशम् आतनोति विस्तारयति ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम से उत्पन्न हुए मनुष्य तुम्हारे ऊपर विचरते हैं । तुम मनुष्य और पशु को धारण करती हो । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और

अन्त्यज—ये पाँच प्रकार के मनुष्य तुम्हारे ही हैं। इन्हीं मनुष्यों के लिये सूर्य उदित होकर अपनी किरणों द्वारा प्रकाश फैलाता है ॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६॥

पदानि—ता। नः। प्रऽजाः। सम्। दुह्रताम्। सम्ऽअग्राः। वाचः। मधु। पृथिवि। धेहि। मह्यम् ॥ १६ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! ताः रश्मयः नोऽस्मभ्यं प्रजाः सन्ततीः समग्रा वाचः समस्तवेदादिशास्त्रजन्यं ज्ञानं संदुह्रतां ददतु। हे पृथिवि ! त्वं मह्यं मधु मधुरमन्नरसादिकं धेहि देहि ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! सूर्य की वे किरणें हमें सन्तान एवं समस्त वेदादि शास्त्रजन्य ज्ञान दें। हे पृथिवि ! तुम मुझे मधुर अन्नरसादि दो ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥१७॥

पदानि—विश्वऽस्वम्। मातरम्। ओषधीनाम्। ध्रुवाम्। भूमिम्। पृथिवीम्। धर्मणा। धृताम्। शिवाम्। स्योनाम्। अनु। चरेम। विश्वहा ॥१७॥

गा० भा०—वयं विश्वस्वं सर्वस्वरूपाम् ओषधीनां व्रीहि-यवादीनां मातरं जनयित्रीं धर्मणा धर्मेण धृतां ध्रुवां दृढां पृथिवीं विस्तीर्णां शिवां कल्याणस्वरूपां स्योनां सुखस्वरूपां भूमिं विश्वाहा सर्वदा परिचरेम पूजयामः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वधनस्वरूपवाली, व्रीहि-यवादि अन्नों को उत्पन्न करनेवाली, धर्म से धृत, दृढ़, विस्तीर्ण, कल्याणस्वरूप एवं सुखस्वरूप पृथिवी का हम सर्वदा पूजन करते हैं ॥ १७ ॥

महत् सधस्थं महती बभूविथ महान् वेग एजथुर्वेपथुष्टे।
महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्ररोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥१८॥

पदानि—महत्। सधऽस्थम्। महती। बभूविथ। महान्। वेगः। एजथुः।

वेपथुः । ते । महान् । त्वा । इन्द्रः । रक्षति । अप्रऽमादम् । सा । नः । भूमे । प्र । रोचय । हिरण्यस्यऽइव । सम्ऽदृशि । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥१८॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! तव महत् सधस्थम् (सह तिष्ठन्ति अस्मिन् प्राणिन इति सधस्थं सहवासस्थानम्) अस्ति त्वं महती बभूविथ भवसि । ते तव महान् वेगः एजथुः गतिः वेपथुः कम्पनम् अस्ति । महान् इन्द्रः परमेश्वरः त्वा त्वाम् अप्रमादं प्रमादरहितः सन् रक्षति, हे भूमे ! सा त्वं नोऽस्मान् हिरण्यस्य संदृशि सन्दर्शने इव प्र-रोचय तेजस्विनः कुरु । कश्चन नोऽस्मान् मा द्विक्षत मा द्विष्यात् ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम्हारा महान् सहवासस्थान है, तुम महती अर्थात् विस्तीर्ण हो, तुम्हारा वेग, गति एवं कम्पन महान् है । जगन्नियन्ता महान् परमेश्वर सावधान होकर तुम्हारी रक्षा करते हैं । हे पृथिवि ! वह तुम हमें हिरण्य के समान रोचिष्णु बनाओ । हम से कोई भी शत्रु द्वेष न करे ॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥१९॥

पदानि—अग्निः । भूम्याम् । ओषधीषु । अग्निम् । आपः । बिभ्रति । अग्निः । अश्मऽसु । अग्निः । अन्तः । पुरुषेषु । गोषु । अश्वेषु । अग्नयः ॥१९॥

गा० भा०—भूम्याम् ओषधीषु व्रीहि-यवादिषु अग्निः वर्तत इति शेषः । अग्निम् आपो जलानि बिभ्रति धारयन्ति, रश्मिषु सूर्य-किरणेषु अग्निः, पुरुषेषु अन्तः मध्ये अग्निः, गोषु अश्वेषु अग्नयः (बहुत्वमविवक्षितम्) अग्निः । "सर्वमग्निमयं जगत्" इति भावः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ—भूमि में व्रीहि-यवादि और औषधियों में अग्नि निवास करता है । जल अपने अन्दर अग्नि को धारण करता है । सूर्य की किरणों में अग्नि रहती है । पुरुषों के हृदय में, गौओं में और घोड़ों के अन्दर अग्नि रहती है । अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् अग्निमय है ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्व१न्तरिक्षम् ।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥२०॥

पदानि---अग्निः । दिवः । आ । तपति । अग्नेः । देवस्य । उरु । अन्तरिक्षम् । अग्निम् । मर्तासः । इन्धते । हव्यऽवाहम् । घृतऽप्रियम् ॥ २० ॥

गा० भा०---अग्निः सूर्यरूपेण दिवः (विभक्तिव्यत्ययः) दिवि द्युलोके आतपति-समन्ताद्दीप्यते अग्नेर्देवस्य उरु विस्तीर्णं अन्तरिक्षमाश्रयः । मर्तासः मर्त्याः हव्यवाहं हविः प्रापकं घृतप्रियम् अग्निम् इन्धते दीपयन्ति ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ---अग्निदेव सूर्यरूप से स्वर्ग में तप रहे हैं । अग्निदेव का आश्रय विस्तीर्ण आकाश है । मनुष्य, देवता एवं पितरों को हवि पहुँचाने वाले घृतप्रिय अग्नि को घृत, इन्धन (काष्ठ) हवि आदि के द्वारा हम दीप्त करते हैं ॥ २० ॥

अग्निवासाः पृथिव्यऽसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥२१॥

पदानि---अग्निवासाः । पृथिवी । असितऽज्ञूः । त्विषिऽमन्तम् । सम्ऽशितम् । मा । कृणोतु ॥ २१ ॥

गा० भा०---अग्निवासाः अग्निनावृता असितज्ञूः श्यामजानुः श्यामा वृक्षादयो जानुस्थानीया यस्याः सेत्यर्थः पृथिवी त्विषीमन्तं तेजस्विनम् संशित प्रभावशालिनं तीव्रबुद्धि वा मा मां कृणोतु करोतु ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ---अग्नि से चारों ओर घिरे हुए श्यामवर्ण के वृक्षादि जिस पृथिवी के जंघा के समान हैं, वह पृथिवी हमें तेजस्वी, प्रभावशाली अथवा तीव्रबुद्धि वाला करे ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरं कृतम् ।
भूम्यां मनुष्याऽ जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥२२॥

पदानि---भूम्याम् देवेभ्यः । ददति । यज्ञम् । हव्यम् । अरम्ऽकृतम् ।

भूम्याम् । मनुष्याः । जीवन्ति । स्वधया । अन्नेन । मर्त्याः । सा । नः । भूमिः । प्राणम् । आयुः । दधातु ।जरत्ऽअष्टिम् । मा । पृथिवी । कृणोतु ॥ २२ ॥

गा० भा०—भूम्यां मनुष्या देवेभ्यो यज्ञं यज्ञसाधनभूतम् अरं-कृतं सम्यक् संस्कृतं हव्यं ददति । भूम्यां मर्त्याः मरणधर्माणो मनुष्याः स्वधया अन्नेन जीवन्ति, सा भूमिः नोऽस्मभ्यं प्राणम् आयुः शतवर्षजीवित्वं दधातु ददातु । पृथिवी मा मां जरदष्टिं अतिवृद्धावस्थापन्नं कृणोतु करोतु ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—भूमि पर मनुष्यगण यज्ञसाधनभूत संस्कृत हवि को देवताओं को देते हैं । भूमि पर मरणधर्मा मनुष्य अन्न से जीवित हैं, वह पृथिवी हमें प्राण अर्थात् शतवर्षपर्यन्त आयु दे । पृथिवी हमें क्रमशः वृद्धावस्थापन्न करे ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि सं बभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन २३

पदानि—यः । ते । गन्धः । पृथिवी । सम्ऽबभूव । यम् । बिभ्रति । ओषधयः । यम् । आपः । यम् । गन्धर्वाः । अप्सरसः । च । भेजिरे । तेन । मा । सुरभिम् । कृणु । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥ २३ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! यः ते तव गन्धः संबभूव त्वयि उत्पन्नः । यं गन्धम् ओषधयः आपश्च बिभ्रति धारयन्ति । यं गन्ध गन्धर्वाः अप्सरसश्च भेजिरे सेवन्ते, तेन गन्धेन मा मां सुरभिं सुगन्धि कृणु कुरु । कश्चन नोऽस्मान् मा द्विक्षत मा द्विष्यात् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि । तुम से जो गन्ध उत्पन्न हुआ है, उस गन्ध को औषधियाँ और जल धारण करते हैं । उस गन्ध का सेवन गन्धर्व और अप्सराएँ करती हैं । उस गन्ध से तुम हमें सुगन्धित करो । हमसे कोई भी द्वेष न करे ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन २४

पदानि—यः । ते । गन्धः । पुष्करम् । आऽविवेश । यम् । समूऽजभ्रुः । सूर्याया । विऽवाहे । अमर्त्याः । पृथिवी । गन्धम् । अग्रे । तेन । मा । सुरभिम् । कृणु । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥ २४ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! यः ते तव गन्धः पुष्करं कमलम् आविवेश प्रविष्टः, यं गन्धं सूर्याया विवाहे अग्रे प्रथमम् अमर्त्याः देवाः संजभ्रुः संजह्रुः हुतवन्तः तेन गन्धेन मा मां सुरभिं सुगन्धि कुरु । कश्चन नोऽस्मान् मा द्विक्षत मा द्विष्यात् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम्हारा जो गन्ध कमल के फूलों में प्रविष्ट है और जिस गन्ध को सूर्या के विवाह के समय पहले देवगण चुरा कर ले गये थे, उस गन्ध से हमें सुगन्धित करो । हम से कोई भी द्वेष न करे ॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु ।
कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि सं-सृज मानो द्विक्षत कश्चन ।२५।

पदानि—यः । ते । गन्धः । पुरुषेषु । स्त्रीषु । पुमूऽसु । भगः । रुचिः । यः । अश्वेषु । वीरेषु । यः । मृगेषु । उत । हस्तिषु । कन्याऽयाम् । वर्चः । यत् । भूमे । तेन । अस्मान् । अपि । सम् । सृज । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥२५॥

गा० भा०—हे भूमे ! यः ते तव गन्धः आमोदः भगः ऐश्वर्यं रुचिः कान्तिः पुरुषेषु स्त्रीषु (पुंस्विति पुनरुक्तिरादरार्था), यो गन्धादिः अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषु उतापि च हस्तिषु वर्तते इति शेषः । यद् वर्चः कान्तिः कन्यायां वर्तते तेन गन्धादिना अस्मान् अपि सं-सृज एकीकुरु । कश्चन नोऽस्मान् मा द्विक्षत मा द्विष्यात् ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमे ! तुम्हारा गन्ध (आमोद) ऐश्वर्य एवं कान्ति पुरुषों और स्त्रियों में हैं तथा गन्धादि पदार्थ घोड़ों, वीर मृगादि पशुओं एवं हाथियों में है । जो कान्ति कन्या में है उस गन्धादि पदार्थों से हमें भी युक्त करो ॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥२६॥

पदानि—शिला। भूमिः। अश्मा। पांसुः। सा। भूमिः। सम्ऽधृता। धृता। तस्यै। हिरण्यऽवक्षसे। पृथिव्यै। अकरम्। नमः॥ २६॥

गा० भा०—शिला पाषाणस्वरूपा, अश्मा-क्षुद्रपाषाणस्वरूपा, पांसुः धूलिरूपा च सा भूमिः धर्मेण संधृता सम्यक् रक्षिता (धृतेति पुनरुक्तिरतिशयार्था)। हिरण्यवक्षसे हिरण्यादिनिधिधारयित्र्यै तस्यै पृथिव्य मातृभूम्यै नमः नमस्कारम् अकरं करोमि॥ २६॥

मन्त्रार्थ—नाना प्रकार के पत्थर, कंकड़, एवं धूलि-रूप ही भूमि है। यह भूमि धर्म से अच्छी तरह रक्षित है। हिरण्यादि की खानों को धारण करने वाली पृथिवी को हम नमस्कार करते हैं॥ २६॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहाः।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥२७॥

पदानि—यस्याम्। वृक्षाः। वानस्पत्याः। ध्रुवाः। तिष्ठन्ति। विश्वहा। पृथिवीम्। विश्वऽधायसम्। धृताम्। अच्छऽआवदामि॥ २७॥

गा० भा०—यस्यां पृथिव्यां वृक्षा आम्रादयः वानस्पत्याः वनस्पतयः पिप्पलादयः ध्रुवा अचलाः विश्वहा सदा तिष्ठन्ति तां विश्वधायसं सर्वस्य धारयित्रीं धर्मेण धृतां पृथिवीम् अच्छ आभिमुख्येन वदामसि वदामः स्तुतिं कुर्मः॥ २७॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी पर आम आदि के वृक्ष और पीपल आदि वनस्पति सदा अचल होकर रहते हैं। जो पृथिवी सारे संसार को धारण करनेवाली और धर्म से रक्षित है, उस पृथिवी की हम सब प्रकार से स्तुति (स्वागत) करते हैं॥२७॥

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

पदानि—उत्ऽईराणाः । उत । आसीनाः । तिष्ठन्तः । प्रऽक्रामन्तः । पत्ऽभ्याम् । दक्षिणऽसव्याभ्याम् । मा । व्यथिष्महि । भूम्याम् ॥ २८ ॥

गा० भा०—दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां चरणाभ्याम् उदीराणाः गच्छन्तः उतापि च आसीना उपविष्टाः तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः धावन्तो भूम्यां वयं मा व्यथिष्महि व्यथिता मा भवेम ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ—इस भूमिपर दाएँ और बाएँ पैर से चलते हुए या बैठे हुए या खड़े हुए या दौड़ते हुए हम कभी पीड़ित न हों ॥ २८ ॥

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि निषीदेम भूमे ॥२९॥

पदानि—विऽमृग्वरीम् । पृथिवीम् । आ । वदामि । क्षमाम् । भूमिम् । ब्रह्मणा । वावृधानाम् । ऊर्जम् । पुष्टम् । बिभ्रतीम् । अन्नऽभागम् । घृतम् । त्वा । अभि । नि । सीदेम । भूमे ॥ २९ ॥

गा० भा०—वि-मृग्वरीं विशेषेण सर्वपदार्थशोधयित्रीं क्षमां सहनशीलां ब्रह्मणा परमेश्वरेण वावृधानाम् अतिशयेन वर्द्धमानां ऊर्ज पुष्टं शक्तियुक्तमन्न-भागं घृतं बिभ्रतीं धारयन्तीं पृथिवीम् भूमिम् आवदामि आभिमुख्येन स्तुतिं करोमि । हे भूमे ! त्वा त्वाम् अभि नि-षीदेम सर्वतोभावेनो-पविशेम ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ—विशेषरूप से सब पदार्थों का शोधन करने वाली, सहनशील, परमात्मा की कृपा से दिनानुदिन अतिशय बढ़ने वाली और शक्तिप्रद अन्न तथा घृतादि को धारण करने वाली उस पृथिवी की हम स्तुति करते हैं ॥२९॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥३०॥

पदानि—शुद्धाः । नः । आपः । तन्वे । क्षरन्तु । यः । नः । सेदुः । अप्रिये । तम् । नि । दध्मः । पवित्रेण । पृथिवि । मा । उत् । पुनामि ॥ ३० ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! शुद्धा नीरोगा आपः नोऽस्माकं तन्वे शरीराय आकाशात् क्षरन्तु पतन्तु । यो नोऽस्माकम् अप्रिये अप्रियं कर्तुं

सेदुः (वचनव्यत्ययः) सादयत्यस्मान् तं रोगं शत्रुषु नि-दध्मः स्थापयामः। अहं पवित्रेण कुशमयेन तेन जलेन मा माम् उत्पुनामि शोधयामि ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! नीरोग शुद्ध जल हमारे शरीर-पुष्टि के लिये आकाश से गिरे। जो रोग हमारे अप्रिय करने के लिये हमें सीदित करता है उस रोग को शत्रुओं के ऊपर हम स्थापित करते हैं। हम अपने शरीर को कुशमय-पवित्रद्वारा जल से पवित्र करते हैं ॥ ३० ॥

यास्ते प्राची प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

पदानि—याः। ते। प्राचीः। प्रऽदिशः। याः। उदीचीः। याः। ते। भूमे। अधरात्। याः। च। पश्चात्। स्योनाः। ताः। मह्यम्। चरते। भवन्तु। मा। नि। पप्तम्। भुवने। शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

गा० भा०—हे भूमे ! ते तव याः प्राचीः प्राच्यः प्रदिशः याः ते तव उदीचीः उदीच्यः यास्ते अधरात् दक्षिणाः यास्ते पश्चात् दिशः ताः त्वयि चरते गच्छते मह्यं स्योनाः सुखकारिण्यो भवन्तु, भुवने शिश्रियाणः भुवनं पुनः पुनः अतिशयेन वा श्रयमाणोऽहं मा नि पप्तं मा नीचैः पतितो भवेयम् ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमे ! तुम्हारी जो पूर्व, उत्तर, दक्षिण और पश्चिम दिशाएँ हैं, वे सब तुम्हारे ऊपर चलते हुए हमारे लिये सुखकारी हों। बारम्बार तुम्हारा आश्रय लेते हुए हम कभी न गिरें ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥३२॥

पदानि—मा। नः। पश्चात्। मा। पुरस्तात्। नुदिष्ठाः। मा। उत्तरात्। अधरात्। उत। स्वस्ति। भूमे। नः। भव। मा। विदन्। परिऽपन्थिनः। वरीयः। यवय। वधम् ॥ ३२ ॥

गा० भा०—हे भूमे ! नोऽस्माकं मा पश्चात् पृष्ठतः मा पुरस्तात्

पुरतः शत्रुः मा उत्तरात् उपरि उतापि च न अधरात् अधस्तात् शत्रुः नोऽस्मान् प्रहर्तुं मा उदिष्ठा उत्थितो न भवेत् । हे भूमे ! त्वं नोऽस्माकं स्वस्ति कल्याणकारिणी भव । परिपन्थिनः शत्रवः मा विदन् अस्मान् न जानन्तु वधं मृत्युं वरीयः अतिशयेन विस्तीर्णं शत्रुकर्तृकमस्मद्वधं यावय पृथक्कुरु ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमे ! कोई भी शत्रु पीछे से या आगे से हमें मारने के लिये उद्यत न हो। ऊपर से या नीचे से कोई शत्रु हमें मारने के लिये न उठे। हे भूमे ! तुम हमारे लिए कल्याणकारिणी बनो। शत्रुगण हमारा पता न लगा सकें। शत्रुकर्तृकवध को हम से दूर करो ॥ ३२ ॥

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

पदानि—यावत् । ते । अभि । विऽपश्यामि । भूमे । सूर्येण । मेदिना । तावत् । मे । चक्षुः । मा । मेष्ट । उत्तराम्ऽउत्तराम् । समाम् ॥ ३३ ॥

गा० भा०—हे भूमे ! यावत् मेदिना स्नेहकेन सूर्येण सह ते अभि विपश्यामि तावत् मे मम चक्षुः मा मेष्टा मा नश्यतु अहम् उत्तराम् उत्तरां समां विपश्येयम् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमे ! स्नेह करने वाले सबके मित्रभूत सूर्य के साथ जब तक हम तुम्हारा विराट् रूप देखते हैं तब तक हमारे नेत्र नष्ट न होने पावें अर्थात् सूर्यद्वारा हमारे नेत्रों में सर्वदा तेजः प्रदान होता रहे। हम उत्तरोत्तर आगामी वर्षों में भी सब पदार्थों को देखें ॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

पदानि—यत् । शयानः । परिऽआवर्ते । दक्षिणम् । सव्यम् । अभि । भूमे । पार्श्वम् । उत्तानाः । त्वा । प्रतीचीम् । यत् । पृष्टीभिः । अधिऽशेमहे । मा । हिंसीः । तत्र । नः । भूमे । सर्वस्य । प्रतिऽशीवरि ॥ ३४ ॥

गा० भा०—हे भूमे ! शयानोऽहं यत् (लिङ्गव्यत्ययः) यं दक्षिणं सव्यं वा पार्श्वम् अभि पर्यावर्त्ते । उत्ताना वयं प्रतीचीं पृष्टीभिः पृष्ठैः यत् त्वा त्वाम् अधिशेमहे तवोपरि शयनं कुर्मः, हे सर्वस्य प्रतिशीवरि सर्वाश्रयभूते भूमे ! तत्र तेषु शयनेषु नोऽस्मान् मा हिंसीः ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ--हे भूमे ! शयन करते हुए हम जो दाईं या बाईं करवट लेते हैं और हम उत्तान होकर पीठों के द्वारा जो तुम्हारे ऊपर शयन करते हैं, सो हे सब की आश्रयभूत पृथिवि ? उन शयनों में तुम हमारी हिंसा मत करना ॥ ३४ ॥

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि माते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥

पदानि—यत् । ते । भूमे । विऽखनामि । क्षिप्रम् । तत् । अपि । रोहतु । मा । ते । मर्म । विऽमृग्वरि । मा । ते । हृदयम् । अर्पिपम् ॥ ३५ ॥

गा० भा०—हे भूमे ! यत् ते तव त्वत्सम्बन्धिकन्दमूलादिकं विखनामि तदपि क्षिप्रं शीघ्रं रोहतु उत्पद्यताम् । हे विमृग्वरि ! शोधयित्रि वसुधे ! यथा ते तव मर्म मा अर्पिपम् मा वधिषम् तथा ते तव हृदयं मा अर्पिपं मा वधिषमहम् ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमे ! तुम्हारे जो कन्दमूलादि हम खोदते हैं वह पुनः शीघ्र उत्पन्न होवें । हे शोधयित्रि वसुधे ! हमने कन्दमूलादि खोदने के समय तुम्हारे मर्म की हिंसा नहीं की है । इसी प्रकार हमने तुम्हारे हृदय की भी हिंसा नहीं की है ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

पदानि--ग्रीष्मः । ते । भूमे । वर्षाणि । शरत् । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः । ऋतवः । ते । विऽहिताः । हायनीः । अहोरात्रे इति । पृथिवि । नः । दुहाताम् ॥ ३६ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि भूमे ! ग्रीष्मः, वर्षाणि, शरत्, हेमन्तः, शिशिरः, वसन्तः,—इति षड् ऋतवः—हायनी वर्षसमूहः अहोरात्रे एते विधात्रा ते त्वदर्थं विहिता, नोऽस्माकं मनोरथं दुहातां (वचनव्यत्ययः) दुहतां पूरयन्तु ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि भूमे ! ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—ये छः ऋतुएँ, वर्षसमूह, दिन और रात्रि ये सभी विधाता के द्वारा तुम्हारे लिये बनाये गये हैं। अतः ये सभी हमारे मनोरथ को पूर्ण करें ॥ ३६ ॥

यापसर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्वन्तः।
परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥३७॥

पदानि—या। अप। सर्पम्। विजमाना। विऽमृग्वरी। यस्याम्। आसन्। अग्नयः। ये। अप्ऽसु। अन्तः। परा। दस्यून्। ददती। देवऽपीयून्। इन्द्रम्। वृणाना। पृथिवी। न। वृत्रम्। शक्राय। दध्रे। वृषभाय। वृष्णे ॥ ३७ ॥

गा० भा०—या विमृग्वरी विशेषेण शोधयित्री सर्पं शेषनागमपविजमाना शेषनागकम्पनमनुलक्ष्य कम्पमाना भवति। अप्सु अन्तर्मध्ये येऽग्नयस्ते यस्यां भूम्यां सन्ति। देवपीयून् देवविरोधिनो दस्यून् परा ददती दूरं कुर्वती सा पृथिवी वृत्रं न वृत्रं परित्यज्य इन्द्रं वृणाना स्वामित्वेन स्वीकुर्वती वृष्णे वीर्यसेक्त्रे वृषभाय श्रेष्ठाय शक्राय इन्द्राय धेनुरूपं दध्रे धृतवती ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ—जो समस्त पदार्थों का विशेष रूप से शोधन करने वाली पृथिवी शेषनाग के काँपने से स्वयं कम्पायमान हो जाती है। जल के अन्दर रहने वाला अग्नि (विद्युत्) जिस पृथिवी में है। देव-विरोधी असुरों को दूरभगाती हुई वृत्रासुर को छोड़कर जो इन्द्र (वराहरूपधारी विष्णु) को स्वामी बनाती हुई वीर्यसेक्ता श्रेष्ठ इन्द्र के लिये जिसने स्वयं धेनुरूप धारण किया था ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।

युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥३८॥

पदानि—यस्याम् । सदोहविर्धाने इति सदःऽहविर्धाने । यूपः । यस्याम् । निऽमीयते । ब्रह्माणः । यस्याम् । अर्चन्ति । ऋक्ऽभिः । साम्ना । यजुःऽविदः । युज्यन्ते । यस्याम् । ऋत्विजः । सोमम् । इन्द्राय । पातवे ॥ ३८ ॥

गा० भा०—यस्यां भूमौ सदः सदोमण्डपः हविर्द्धाने हविर्धानसंज्ञकौ मण्डपौ निर्मीयिते, यस्यां भूमौ यूपो निमीयते उच्छ्रीयते । यस्यां भूमौ ब्रह्माणो ज्ञानिनो ब्राह्मणा ऋत्विजः ऋग्भिः ऋग्वेदमन्त्रैः साम्ना सामभिः सामवेदीय-मन्त्रैश्च परमात्मानम् अर्चन्ति पूजयन्ति, यस्यां भूमौ यजुर्विदः ऋत्विजो यजुर्वेदीयमन्त्रैः ❀ इन्द्राय इन्द्रं सोमं पातवे पाययितुं युज्यन्ते यज्ञे युक्ता भवन्ति ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ—जिस भूमिपर सदोमण्डप और हविर्धानसंज्ञक मण्डपद्वय बनाये जाते हैं तथा यूप खड़ा किया जाता है । जिस भूमिपर ब्राह्मण (ऋत्विग्गण) ऋग्वेदीय एवं सामवेदीय मन्त्रों द्वारा परमात्मा की पूजा करते हैं । जिस भूमिपर यजुर्वेद वेत्ता ऋत्विक् गण यजुर्वेदीय मन्त्रों द्वारा इन्द्र को सोम-रस का पान कराने के लिये यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥३९॥

पदानि—यस्याम् । पूर्वे । भूतऽकृतः । ऋषयः । गाः । उत् । आनृचुः । सप्त । सत्रेण । वेधसः । यज्ञेन । तपसा । सह ॥ ३९ ॥

गा० भा०—यस्यां भूमौ पूर्वे पुरातनाः भूतकृतः प्राणिस्रष्टारः ऋषयः सप्त कश्यपादयः वेधसः प्रजापतयः सत्रेण महायज्ञेनयज्ञेन सोमादिमखेन तपसा सह गाः वैदिकमन्त्रान् उदानृचुः (उत्-आनृचुः) उच्चारित-वन्तः ॥ ३९ ॥

❀ इन्द्रो यज्ञस्य देवता । (ऐ० ब्रा० ५।३४) ।
इन्द्रो यज्ञस्य नेता । (श० ब्रा० ४।१।१५) ।
इन्द्रो वै यजमानः । (श० ब्रा० २।१।२।११) ।

मन्त्रार्थ—जिस भूमिपर पुरातन प्राणियों के उत्पन्न करने वाले कश्यपादि सप्तर्षिरूप प्रजापतिगण ने सत्र (द्वादशाहादि), महायज्ञ एवं सोमादि मखद्वारा तपस्या के साथ वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया था ॥ ३९ ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥

पदानि—सा । नः । भूमिः । आ । दिशतु । यत् । धनम् । कामयामहे । भगः । अनुऽप्रयुङ्क्ताम् । इन्द्रः । एतु । पुरःऽगवः ॥ ४० ॥

गा० भा०—सा भूमिः वयं यद्धनं कामयामहे इच्छामः तत् धनं नोऽस्मभ्यम् आदिशतु ददातु । भगः भाग्यम् अस्मदीयम् अनु-प्रयुक्तां सहायको भवतु, इन्द्रः परमेश्वरः पुरोगवः अग्रगन्ता सन् एतु गच्छतु अस्मद्धितायेति शेषः ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—वह भूमि माता जिस धन की हम इच्छा करते हैं उसे हमें दे। हमारा भाग्य हमारा सहायक बने । परमेश्वर हमारे हित के लिए हमारे आगे चलें ॥ ४० ॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैऽलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्रणुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥४१॥

पदानि—यस्याम् । गायन्ति । नृत्यन्ति । भूम्याम् । मर्त्याः । विऽऐलबाः । युध्यन्ते । यस्याम् । आऽक्रन्दः । यस्याम् । वदति । दुन्दुभिः । सा । नः । भूमिः । प्र । नुदताम् । सऽपत्नान् । असपत्नम् । मा । पृथिवी । कृणोतु ॥ ४१ ॥

गा० भा०—यस्यां भूम्यां व्यैलबाः [वि-ऐलबाः] विजयमुदिता मर्त्याः मनुष्याः नृत्यन्ति गायन्ति युध्यन्ते प्रहरन्ति यस्यां योद्धारः यस्याम् आक्रन्दः रोदनं पराजितजनानाम् यस्यां दुन्दुभिः वाद्यविशेषो वदति सा-पृथिवी भूमिः नोऽस्माकम् सपत्नान् शत्रून् प्रणुदतां निराकरोतु । अथ च पृथिवी मा माम् अ-सपत्नं शत्रुरहितं कृणोतु करोतु ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ—जिस भूमिपर मनुष्यगण विजय से प्रसन्न होकर नाचते और गाते हैं, जिस भूमि पर योद्धा लोग परस्पर अस्त्र-शस्त्रों का प्रहार करते हैं, जिस भूमि पर पराजित जनों का रोना सुनाई देता है, जिस भूमि पर दुन्दुभि की हर्ष-सूचक ध्वनि सुनाई देती है, वह भूमि हमारे शत्रुओं को दूर करे। पृथिवी माता हमें शत्रु रहित करे ॥ ४१ ॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥४२॥

पदानि—यस्याम् । अन्नम् । व्रीहिऽयवौ । यस्याः । इमाः । पञ्च । कृष्टयः । भूम्यै । पर्जन्यऽपत्न्यै । नमः । अस्तु । वर्षऽमेदसे ॥ ४२ ॥

गा० भा०—यस्यां भूम्याम् व्रीहियवौ यव-तण्डुलौ अन्नम् अर्थात् व्रीहि-यवाद्यन्नमुत्पन्नम् यस्याः सकाशात् ❀ पञ्च-कृष्टयः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-निषादाख्याः पञ्चविधा मनुष्या उत्पन्नाः वर्षमेदसे जलमेदसे पर्जन्य-पत्न्यै मेघपालितायै तस्यै मेदिन्यै भूम्यै नमः नमस्कारोऽस्तु ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ—जिस भूमि पर व्रीहि-यवादि अन्न उत्पन्न हुए हैं। जिस भूमि पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्त्यज—ये पाँच प्रकार के मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। जिस भूमि की वर्षा चर्बी है, ऐसी पर्जन्य से रक्षित मेदिनी को हमारा नमस्कार है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥४३॥

पदानि—यस्याः । पुरः । देवऽकृताः । क्षेत्रे । यस्याः । विऽकुर्वते । प्रजाऽपतिः । पृथिवीम् । विश्वऽगर्भाम् । आशाम्ऽआशाम् । रण्याम् । नः । कृणोतु ॥ ४३ ॥

गा० भा०—यस्याः (सप्तम्यर्थे षष्ठी) यस्यां पृथिव्यां देवकृता देवनिर्मिताः पुरः ग्रामाः सन्ति । यस्याः क्षेत्रे नानाविधपदार्थाः विकुर्वते विकारमापद्यन्ते

❀ वर्णचतुष्टय और निषाद ।

विश्वगर्भां विश्वस्य धारयित्रीं तां वसुधां पृथिवीम् आशामाशां दिशां-दिशां रण्यां रमणीयां नोऽस्मदर्थं प्रजापतिः कृणोतु करोतु ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी पर देव-निर्मित गाँव हैं, जिस पृथिवी के खेतों में नानाप्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जो पृथिवी समस्त संसार को धारण करने वाली है, उस पृथिवी की समस्त दिशाएँ हमारे लिये प्रजापति रमणीय बनावें ॥ ४३ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

पदानि—निऽधिम् । बिभ्रती । बहुऽधा । गुहा । वसु । मणिम् । हिरण्यम् । पृथिवी । ददातु । मे । वसूनि । नः । वसुऽदा । रासमाना । देवी । दधातु । सुऽमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

गा० भा०—गुहा गुहायां रत्नानीं निधिं बिभ्रति (ह्रस्वश्छान्दसः) धारयन्ती पृथिवी वसु धनं मणिं पद्मरागादिकं हिरण्यं मे मह्यं ददातु । सा वसुदा धनदात्री रासमाना हर्षध्वनिं कुर्वाणा पृथिवी देवी सुमनस्यमाना प्रसन्ना सती नोऽस्मभ्यं वसूनि धनानि दधातु ददातु ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—गुहा में रत्नों की खान को धारण करती हुई पृथिवी हमें धन, पद्मरागादि मणि और सुवर्ण दे । धन को देने वाली हर्षध्वनि करती हुई वह पृथिवी प्रसन्न होकर हमें नाना प्रकार के धन दे ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्म्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

पदानि—जनम् । बिभ्रती । बहुऽधा । विऽवाचसम् । नानाऽधर्माणम् । पृथिवी । यथाऽओकसम् । सहस्रम् । धाराः । द्रविणस्य । मे । दुहाम् । ध्रुवाऽइव । धेनुः । अनपऽस्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

गा० भा०—यथौकसं यथायोग्यनिवासयुक्तं विवाचसं विविधभाषाभाषिणं नानाधर्माणं नानाविधधर्मसम्प्रदायपालकं जनं बहुधा बहुप्रकारेण बिभ्रती धारयन्ती पृथिवी अनपस्फुरन्ती अन्यत्रानपगामिनी धेनुरिव ध्रुवा

स्थिरा सती द्रविणस्य धनस्य सहस्रं धाराः मे मह्यं दुहां दोग्धु ददातु ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ—यथास्थान निवासी, विविध भाषाओं के वक्ता, नानाप्रकार के धर्म एवं विविध सम्प्रदायों के पालक मनुष्यों को अनेक प्रकार से धारण करती हुई पृथिवी जो कि अन्यत्र कहीं नहीं जाने वाली है, वह पृथिवी गौ की तरह स्थिर होकर नाना प्रकार के धन हमें दे ॥ ४५ ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहाशये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि ।
तन्नः सर्पन्मोप सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥४६॥

पदानि—यः । ते । सर्पः । वृश्चिकः । तृष्टऽदंश्मा । हेमन्तऽजब्धः । भृमलः । गुहा । शये । क्रिमिः । जिन्वत् । पृथिवि । यत्ऽयत् । एजति । प्रावृषि । तत् । नः । सर्पत् । मा । उप । सृपत् । यत् । शिवम् । तेन । नः । मृड ॥ ४६ ॥

सा० भा०—हे पृथिवि ! यः तृष्टदंश्मा तीक्ष्णदशनशीलः सर्पः वृश्चिकः भृमलः भ्रमणशीलः हेमन्तजब्धो हेमन्ततौं हिमपीडितः सन् गुहाशये गह्वरमध्ये वसति । यत् यः क्रिमिः वृश्चिकादिः प्रावृषि वर्षर्तौ जिन्वत् जलेन तृप्यन् एजति (व्यत्ययेनात्मनेपदस्थाने परस्मैपदम्) एजते चलति तत् सः सर्पन् चलन् नोऽस्मान् मोप-सृपत् अस्मत्समीपं नागच्छेत् । यच्छिवं कल्याणं तेन नोऽस्मान् मृड सुखय ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! जो तीक्ष्ण दशनशील अर्थात् बहुत तेज से काटने वाले सर्प, बिच्छू आदि भ्रमणशील तामसी जन्तु हेमन्त ऋतु में जाड़े से पीड़ित होकर तुम्हारे गह्वरके मध्य में निवास करते हैं । और जो बिच्छू, कृमि आदि वर्षा-ऋतु में जल से तृप्त होते हुए चलते हैं वे चलते हुए हमारे पास न आने पावें । हमारे लिये जो उत्तम कल्याण हैं उनसे हमें सुखकारी बनाओ ॥ ४६ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं

जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

पदानि—ये। ते। पन्थानः। बहवः। जनऽअयनाः। रथस्य। वर्त्म। अनसा। च। यातवे। यैः। सम्ऽचरन्ति। उभये। भद्रऽपापाः। तम्। पन्थानम्। जयेम। अनमित्रम्। अतस्करम्। यत्। शिवम्। तेन। नः। मृड ॥ ४७ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! ते तव जनायनाः जनानामाश्रयभूताः ये बहवः पन्थानो मार्गाः सन्ति। अपि च रथस्य अनसः शकटस्य च यातवे यातुं यद्वर्त्म मार्गोऽस्ति यैः पूर्वोक्तैः मार्गैः भद्रपापाः पुण्य-पापकारिणः उभये मनुष्याः सञ्चरन्ति त पन्थानम् अनमित्रं शत्रुरहितम् अतस्कर चौररहितं वयं जयेम। यच्छिवं कल्याणकारि वर्त्म तेन नोऽस्मान् मृड सुखय ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! प्राणियों के आश्रयभूत तुम्हारे बहुत से मार्ग हैं। रथ और गाड़ियों के जाने के लिये भी अनेकों मार्ग हैं, जिन पूर्वोक्त मार्गों से पुण्यात्मा और पापात्मा दोनों प्रकार के मनुष्य जाते हैं, हम उस पुण्य मार्गपर शत्रु और चोरों से रहित होकर विजय प्राप्त करें। जो तुम्हारा कल्याणकारी मार्ग है, उससे हमें सुखी बनाओ ॥ ४७ ॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

पदानि—मल्वम्। बिभ्रती। गुरुऽभृत्। भद्रऽपापस्य। निऽधनम्। तितिक्षुः। वराहेण। पृथिवी। सम्ऽविदाना। सूकराय। वि। जिहीते। मृगाय ॥४८॥

गा० भा०—गुरुभृत् गुरुपदार्थानां धारयित्री पृथिवी मल्वम् उच्चनीचवस्तुजातं बिभ्रती दधती भद्रपापस्य धर्मात्मनां पापिनाञ्च निधनं मरणं तितिक्षुः सहनशीला वराहेण संविदाना ज्ञायमाना सूकराय मृगाय वराहपशुरूपधारिणे विष्णवे वि-जिहीते अर्थात् वराहावतारधारिणं विष्णुमनुकूलयितुं चेष्टते ॥४८॥

मन्त्रार्थ—वजनदार (भारी) पदार्थों को एवं ऊँचे और नीचे अर्थात् छोटे—बड़े पदार्थों को धारण करती हुई, धर्मात्माओं और पापियों के मरण को सहन करने वाली पृथिवी वराह भगवान् से ज्ञात होनेपर वराहावतार विष्णु के अनुकूल करने के लिये चेष्टा करती है ॥ ४८ ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवी दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥४९॥

पदानि—ये । ते । आरण्याः । पशवः । मृगाः । वने । हिताः । सिंहाः । व्याघ्राः । पुरुषऽअदः । चरन्ति । उलम् । वृकम् । पृथिवि । दुच्छुनाम् । इतः । ऋक्षीकाम् । रक्षः । अप । बाधय । अस्मत् ॥ ४९ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! ये ते तव आरण्याः अरण्ये भवाः पशवः वने हिताः वनं हितं येषां ते तथोक्ताः मृगाः हरिणाः सिंहाः व्याघ्राः सिंह-व्याघ्रादयः पुरुषादः मनुष्य-भक्षकाश्च राक्षसाः चरन्ति भ्राम्यन्ति । उलं वन्य-जन्तुविशेषं (बन बिलाव), वृकम् अरण्यश्वानम् (भेड़िया), दुच्छुनां दुष्टशुनां समूहम् ऋक्षीकाम् ऋक्षसमूहं रक्षः राक्षसम् इतः अस्मात् भूप्रदेशात् अस्मत् सकाशाच्च अपबाधय पृथक्कुरु ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम्हारे ऊपर जो जङ्गली हरिण, सेर, व्याघ्र आदि जानवर एवं मनुष्य-भक्षक राक्षसगण घूमते हैं और चीते, भेड़िये, दुष्ट कुत्ते, भालू एवं राक्षस आदि जो जन्तु हैं, उन्हें हमारे पास से अलग करो अर्थात् हमारे पास न आने दो ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः ।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥५०॥

पदानि—ये । गन्धर्वाः । अप्सरसः । ये । च । अरायाः । किमीदिनः । पिशाचान् । सर्वा । रक्षांसि । तान् । अस्मत् । भूमे । यावय ॥ ५० ॥

गा० भा०—हे भूमे ! ये गन्धर्वाः या अप्सरसः ये च अरायाः दानप्रतिषेधकाः किमीदिनः 'किमिदं किमिदम्' इत्येवं वदनशीला राक्षसाः तान् तथा पिशाचान् सर्वा सर्वाणि रक्षांसि अस्मत् अस्मत्तः यावय पृथक्कुरु ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—हे भूमे ! जो गन्धर्व, अप्सराएँ और देवताओं के हवि-प्रतिबन्धक हैं और जो यज्ञादि शुभ-कर्म को देख कर 'यह क्या हो रहा है' ऐसा कहने वाले जो राक्षस हैं उनको एवं पिशाचों को हमसे दूर करो ॥ ५० ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥५१॥

पदानि—याम् । द्विऽपादः । पक्षिणः । समऽपतन्ति । हंसाः । सुऽपर्णाः । शकुनाः । वयांसि । यस्याम् । वातः । मातरिश्वा । ईयते । रजांसि । कृण्वन् । च्यावयन् । च । वृक्षान् । वातस्य । प्रऽवाम् । उपऽवाम् । अनु । वाति । अर्चिः ॥५१॥

गा० भा०—यां भूमिं द्विपादः द्विचरणाः पक्षिणः हंसाः सुपर्णाः गरुडाः शकुना गृद्ध्रादयः वयांसि क्षुद्रपक्षिणः सम्पतन्ति उड्डीयन्ते । यस्यां भूमौ मातरिश्वा वातः रजांसि पांसून् कृण्वन् इतस्ततः किरन् वृक्षान् च्यावयन् पातयन् ईयते प्रवहति । वातस्य प्रवाम् प्रवहनम् उपवाम् पृथिवीसमीपे वहनम् ज्वालाभिः अनुकुर्वन् अर्चिः अग्निः वाति प्रज्वलिति ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी पर दो पैर वाले हंस, गरुड़, गृद्ध, आदि तथा अन्य क्षुद्र छोटे-छोटे पक्षीगण उड़ते हैं और जिस पृथिवी पर वायु धूल को इधर-उधर उड़ाता हुआ और वृक्षों को गिराता हुआ जोर से बहता है । पृथिवी के नजदीक वायु के बहने को अपनी ज्वालाओं द्वारा अनुकरण करता हुआ अग्नि प्रज्वलित होता है ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु
भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

पदानि—यस्याम् । कृष्णम् । अरुणम् । च । संहिते इति समऽहिते । अहोरात्रे इति । विहिते इति विऽहिते । भूम्याम् । अधि । वर्षेण । भूमिः । पृथिवी । वृता । आऽवृता । सा । नः । दधातु । भद्रया । प्रिये । धामनिऽधामनि ॥५२॥

गा० भा०—यस्यां भूम्यां अधि उपरि कृष्णं रात्रिरूपम् अरुणं रक्तं दिवसरूपं संहिते एकीभूते अहोरात्रे विहिते प्रातःकाले भवतः । वर्षेण

वृष्ट्या वृतावृता सम्यग् युक्ता सा पृथिवी प्रिये रमणीये धामनि धामनि स्थाने-स्थाने नोऽस्मभ्यं भद्रया भद्राणि दधातु ददातु ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ—जिस पृथिवी के ऊपर रात्रि का कालारूप और दिन का लालरूप एक होकर अहोरात्ररूप से प्रातःकाल देखे जाते हैं। वह पृथिवी दृष्टि से युक्त हमारे प्रत्येक प्रिय स्थानों में हमें कल्याण प्रदान करे ॥ ५२ ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥५३॥

पदानि—द्यौः। च। मे। इदम्। पृथिवी। च। अन्तरिक्षम्। च। मे। व्यचः। अग्निः। सूर्यः। आपः। मेधाम्। विश्वे। देवाः। च। सम्। ददुः ॥ ५३ ॥

गा०भा०—द्यौश्च द्युलोकोऽपि पृथिवी च अन्तरिक्षञ्च एते त्रयो लोकाः मे मह्यम् इदं व्यचः विस्तीर्णं स्थानं ददुः दत्तवन्तः। अग्निः सूर्यः आपः विश्वेदेवाश्च मेधां बुद्धिं संददुः दत्तवन्तः ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष—इन तीनों लोकों ने हमें यह विस्तीर्ण स्थान दिया है और अग्नि, सूर्य, जल और विश्वेदेव ने हमें बुद्धि भी दिया है ॥ ५३ ॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

पदानि—अहम्। अस्मि। सहमानः। उत्तरः। नाम। भूम्याम्। अभीषाट्। अस्मि। विश्वाषाट्। आशाम्ऽआशाम्। विऽससहिः ॥ ५४ ॥

गा० भा०—भूम्याम् शत्रून् सहमान अभिभवन् उत्तरः उत्कृष्टतरः नाम (नामेति संभावनायाम्) अहमस्मि। अभीषाट् अभिषहमानः सपत्नान् विश्वाषाट् सर्वशत्रुसहनशीलः आशां-आशां प्रतिदिशं विषासहिः विशेषेण सपत्नाभिभवशीलः अस्मि भवेयम् ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ—पृथिवी पर शत्रुओं को दबाता हुआ मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ और शत्रुओं का अभिभव करता हुआ समस्त शत्रुओं के पराक्रम के सहनशील योग्य मैं होऊँ ॥ ५४ ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

पदानि—अदः। यत्। देवि। प्रथमाना। पुरस्तात्। देवैः। उक्ता। विऽअसर्पः। महिऽत्वम्। आ। त्वा। सुऽभूतम्। अविशत्। तदानीम्। अकल्पयथाः। प्रऽदिशः। चतस्रः ॥ ५५ ॥

गा० भा०—हे देवि! भूदेवि! त्वं पुरस्तात् पूर्वं 'विस्तीर्णा भव' इति देवैरुक्ता अदो यत् इदं यत् प्रथमाना व्यसर्पः विस्तीर्णतां गतवती तदानीं तदा सुभूतं शोभनप्राणिजातम् त्वा त्वाम् आ आभिमुख्येन अविशत् प्रविष्टमभूत्। त्वञ्च चतस्रः प्रदिशः पूर्वाद्याः अकल्पयथाः कल्पितवती ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि देवि! तुम पहले 'विस्तीर्ण हो जाओ' इस प्रकार देवताओं से कही जाने पर पृथिवी विस्तीर्ण हो गई। पश्चात् शोभन प्राणिसमूह ने तुम्हारे ऊपर निवास किया। तुमने पूर्वादि चारों दिशाओं का निर्माण किया है ॥ ५५ ॥

ये ग्रामाः यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥५६॥

पदानि—ये। ग्रामाः। यत्। अरण्यम्। याः। सभाः। अधि। भूम्याम्। ये। सम्ऽग्रामाः। सम्ऽइतयः। तेषु। चारु। वदेम। ते। ॥ ५६ ॥

गा० भा०—भूम्याम् अधि उपरि ये ग्रामाः यत् अरण्यं याः सभाः ये संग्रामाः युद्धानि समितयश्च ते तव तेषु ग्रामादिषु वयं चारु सम्यक् तव गुणग्रामं वदेम ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ—पृथिवी के ऊपर जो ग्राम, जंगल, सभाएँ, युद्ध और समितियाँ हैं, उन सब में पृथिवी के अच्छी तरह से हम गुण गान करते हैं ॥ ५६ ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षीयन् पृथिवीं या दजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥५७॥

पदानि—अश्वःऽइव । रजः । दुधुवे । वि । तान् । जनान् । ये । आऽक्षियन् । पृथिवीम् । यात् । अजायत । मन्द्रा । अग्रऽइत्वरी । भुवनस्य । गोपाः । वनस्पतीनाम् । गृभिः । ओषधीनाम् ॥ ५७ ॥

गा०भा०—हे पृथिवि ! ये त्वां पृथिवीम् आक्षियन् तवोपरि व्युषितवन्तः यान् यत् प्राणिजातम् अजायत तवोपरि तान् जनान् अश्वः स्वशरीरस्थं रज इव त्वं दुधुवे धूनासि पृथक्करोषि । तथा मन्द्रा मदनशीला अग्रेत्वरी अग्रगामिनी त्वं भुवनस्य भूतजातस्य गोपा रक्षयित्री वनस्पतीनाम् ओषधीनाञ्च गृभिः ग्रहणशीला (धारयित्री) असि ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! जिन लोगों ने तुम्हारे ऊपर निवास किया था और जो प्राणिसमूह तुम्हारे ऊपर उत्पन्न हुए थे, उन प्राणियों को तुम उसी प्रकार पृथक् करती हो जिस प्रकार घोड़ा अपने शरीर के धूल को झाड़ता है । हे हर्षशीले अग्रगामिनि पृथिवि ! तुम समस्त प्राणियों की रक्षा करने वाली और औषधियों को धारण करने वाली हो ॥ ५७ ॥

यत् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥५८॥

पदानि—यत् । वदामि । मधुऽमत् । तत् । वदामि । यत् । ईक्षे । तत् । वनन्ति । मा । त्विषिऽमान् । अस्मि । जूतिऽमान् । अव । अन्यान् । हन्मि । दोधतः ॥ ५८ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि ! तव प्रसादात् अहं यत् वदामि तत् मधुमत् मधुरं वदामि, यत् यत् ईक्षे पश्यामि तद् मा मां वनन्ति (वचनव्यत्ययः) वनुते प्रीणाति । अहं त्विषीमान् तेजस्वी जूतिमान् वेगवान् अस्मि । यान् कांश्च मित्रजनान् अवान् रक्षितवान् अस्मि दोधतः कम्पकान् शत्रून् हन्मि ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! मैं जो कुछ मधुर बोलता हूँ वह तुम्हारी कृपा से ही बोलता हूँ। मैं जो कुछ देखता हूँ वह मुझे अच्छा लगता है । मैं तेजस्वी और वेगवान् हूँ । मैं जिन किन्हीं असहाय मित्रजनों की रक्षा करता हूँ और गरीबों को कँपाने वाले (त्रास देने वाले) जिन शत्रुओं को मारता हूँ, वह तुम्हारी दयाका हीफल है ॥ ५८ ॥

शान्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह ॥५९॥

पदानि—शन्तिऽवा । सुरभिः । स्योना । कीलालऽऊध्नी। पयस्वती । भूमिः। अधि । ब्रवीतु । मे । पृथिवी । पयसा । सह ॥ ५९ ॥

सा० भा०—शन्ति वा शान्ता सुरभिः कामधेनुरूपा स्योना सुखस्वरूपा कीलालोध्नी (कीलालशब्देन लक्षणया तदाधारभूताः समुद्रा गृह्यन्ते) कीलालं समुद्रा एव ऊधो यस्या सा तथोक्ता पयस्वती गवादि द्वारा दुग्धवती पृथिवी विस्तीर्णा भूमिः पयसा अन्न-क्षीरादिना सह मे मह्यम् अधि अधिकं ब्रवीतु ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ—शान्ता, कामधेनुरूपा, समुद्ररूप चार थनों वाली पृथिवी गवादि पशुओं द्वारा दुग्ध देने वाली और अन्नादिद्वारा मुझसे अधिक बोले ॥ ५९ ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥६०॥

पदानि—याम् । अनुऽऐच्छत् । हविषा । विश्वऽकर्मा । अन्तः । अर्णवे । रजसि । प्रऽविष्टाम् । भुजिष्यऽम् । पात्रम् । निऽहितम् । गुहा । यत् । आविः । भोगे । अभवत् । मातृमत्ऽभ्यः ॥ ६० ॥

सा० भा०—अन्तर्णवे समुद्रमध्ये रजसि बालुकायां प्रविष्टां यां भूमिं विश्वकर्मा परमेश्वरः हविषा अन्वैच्छत् प्राप्तुमैच्छत् । हे पृथिवि ! गुहा गुहायां निहितं भुजिष्यं भोगयोग्यं पात्रं तव रूपं मातृमद्भ्यः पृथिविमातृयुक्तेभ्यो जनेभ्यः भोगे (चतुर्थ्यें सप्तमी) भोगाय यत आविरभवत् प्रादुरभूत् ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ—समुद्र के बीच में बालुका में छिपी हुई जिस भूमि को परमेश्वर ने हवि के द्वारा प्राप्त करना चाहा था। हे पृथिवि! गुप्त स्थान में छिपा हुआ भोगयोग्य तुम्हारा स्वरूप मातृमान् जनों के भोगार्थ प्रकट हुआ है ॥६० ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

पदानि—त्वम्। असि। आऽवपनी। जनानाम्। अदितिः। कामऽदुघा। पप्रथाना। यत्। ते। ऊनम्। तत्। ते। आ। पूरयाति। प्रजाऽपतिः। प्रथमऽजाः। ऋतस्य ॥ ६१ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि! त्वं जनानाम् आवपनी जन्मदात्री अदितिः अदीना कामदुघा अभिलषितपदार्थदात्री पप्रथाना अतिविस्तीर्णा असि। ऋतस्य सत्यस्य विष्णोः प्रथमजा प्रथमोत्पन्नः प्रजापतिर्ब्रह्मा यत् ते तव ऊनं न्यूनमङ्गं तत् ते तव आ पूरयाति आ पूरयतु ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि! तुम मनुष्यों की जन्मदात्री, अदीना, सकल कामनाओं को पूर्ण करने वाली अति विस्तीर्ण हो। विष्णु के ज्येष्ठ पुत्र प्रजापति ब्रह्मा तुम्हारे जो न्यून अङ्ग हैं उन्हें पूर्ण करते हैं ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

पदानि—उपऽस्थाः। ते। अनमीवाः। अयक्ष्माः। अस्मभ्यम्। सन्तु। पृथिवि। प्रऽसूताः। दीर्घम्। न। आयुः। प्रतिऽबुध्यमानाः। वयम्। तुभ्यम्। बलिऽहृतः। स्याम ॥ ६२ ॥

गा० भा०—हे पृथिवि! ते तव उपस्थाः अङ्कसदृशा द्वीपाः अनमीवाः क्षुद्ररोगरहिताः अयक्ष्माः प्रबलक्षयादिरोगरहिताः प्रसूताः त्वत्प्रेरिताः अस्मभ्यम् सन्तु। नोऽस्माकमायुः दीर्घं शतवर्षपर्यन्तं स्यात्। प्रतिबुध्यमानाः सावधानाः सन्तो वयं तुभ्यं बलिहृतः बलिदायकाः स्याम भवेम ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि! तुम्हारे गोद के सदृश द्वीप-समुदाय, क्षुद्ररोगरहित,

एवं क्षयादि प्रबल-रोगों से रहित वस्तुएँ तुम्हारी कृपा से हमारे लिये हों। हमारी आयु सौ वर्ष तक अथवा उससे भी अधिक हो। हम सावधान होकर सर्वदा तुम्हें भेट पूजा देनेवाले हों॥ ६२॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥६३॥

पदानि—भूमे। मातः। नि। धेहि। मा। भद्रया। सुऽप्रतिस्थितम्। सम्-विदाना। दिवा। कवे। श्रियाम्। मा। धेहि। भूत्याम्॥ ६३॥

सा० भा०—हे भूमे मातः! भद्रया भद्रे कल्याणराशौ मा मां निधेहि स्थापय। हे कवे! क्रान्तदर्शिनि भूमे! त्वं दिवा दिने अस्माभिः सह संविदाना ऐकमत्यं प्राप्ता सती मा माम् सुप्रतिष्ठितं स्वस्थाने कुरु, श्रियां लक्ष्म्यां भूत्याम् ऐश्वर्यभोगे च धेहि स्थापय॥ ६३॥

[इति अथर्ववेदद्वादशकाण्डे पृथिवीसूक्तम्।]

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि मातः! तुम मुझे कल्याण-राशियों में रखो। हे दूरदर्शिनि पृथिवि! तुम दिन में हम से ऐकमत्य प्राप्त कर हमें अपने स्थान में सुप्रतिष्ठित कर लक्ष्मी के समीप एवं ऐश्वर्य-भोग में रखो॥ ६३॥

यह अथर्ववेद के बारहवें काण्ड का पृथिवीसूक्त समाप्त हुआ।

शुक्लयजुर्वेदषट्त्रिंशदध्याये

शान्त्यध्यायः[1] ।

(महीधरभाष्य–मन्त्रार्थप्रकाशिकाख्यटीकाद्वयोपेतः)

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये । वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥१॥

म०भा०—पञ्चाध्यायी आथर्वणेन दधीचा दृष्टा 'दध्यङ् ह वा आथर्वण एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं विदाञ्चकार' (१४।१।१।२०) इति श्रुतेः । 'उग्रश्च' (३९।७। १७।८६) इत्याग्निको मन्त्रः । अग्निं हृदयेनेत्याध्यायसमाप्तिपर्यन्तमाश्वमेधिकम् (३९।८—१३) तद्द्वयं वर्जयित्वा । (का० अनुक्रमण्याम्) शान्तिकरणमाद्य-न्तयोः । ऋचं वाचमित्यध्यायेन शान्तिकरणं कार्यम् । स्वाध्याये मन्त्रपाठे प्रवर्ग्यमन्त्रादावस्याध्यायस्य दर्शनात् ।

अथ मन्त्रार्थः । पञ्च यजूंषि लिङ्गोक्त-देवतानि । ऋचमृग्रूपां वाचमहं प्रपद्ये प्रविशामि शरणं व्रजामि । यजुः यजुरूपं मनः प्रविशामि । प्राणं प्राणरूपं साम प्रपद्ये । चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियं च प्रपद्ये । वागादिग्रहणं सप्तदशावयवोपलक्षणम् । सप्तदशावयवं प्रजापतेर्लिङ्गं प्रपद्ये इत्यर्थः । त्रयीविद्यां लिङ्गशरीरं च प्रपन्नं प्रवर्ग्यो न नाशयेदिति भावः । तथा वागिन्द्रियमोजो मानसं बलं धार्ष्ट्यम् । पुनरोजोग्रहणाच्छारीरं च बलम् । प्राणापानौ उच्छ्वासनिश्वासवायू च एते सह एकीभूताः सन्तो मयि वर्तन्ते । अतोऽपि प्रवर्ग्योऽस्मान्न हन्तीति भावः ॥ १ ॥

---

१ 'ऋचं वाचम्' इति शान्त्यध्यायस्य आथर्वणो दधीचि ऋषिः । छन्दांसि देवताश्च महीधरेण पृथक् पृथक् मन्त्रभाष्ये उक्ताः । विनियोगस्तु शान्तिपाठ एव ।

मन्त्रार्थ—मैं ऋक्-रूप वाणीकी, यजु-रूप मनकी, प्राणरूप सामकी और चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रिय की शरण लेता हूँ। जिससे वाणी-बल, शारीरिक बल एवं प्राण तथा अपान मुझमें [स्थिररूपसे] रहें ॥ १ ॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥ २ ॥

म० भा०—बृहस्पतिदेवत्या पंक्तिः मे मम चक्षुषः चक्षुरिन्द्रियस्य यत् छिद्रमवखण्डनं जातं प्रवर्ग्याचरणेन हृदयस्य बुद्धेर्वा यत् छिद्रं जातम्। मनसो वा यत् अतितृण्णमतिहिंसितम् प्रवर्ग्याचरणेन यत् चक्षुर्बुद्धिमनसां व्याकुलत्वं जातम् बृहस्पतिर्देवगुरुः मे मम तत् छिद्रमतितृण्णं च दधातु संदधातु छिद्रं निवर्तयतु। भुवनस्य भूतजातस्य यः पतिरधिपतिः प्रवर्ग्यरूपो यज्ञः स नोऽस्माकं शं सुखरूपो भवतु। बृहस्पतिना छिद्रापाकरणात्प्रवर्ग्यः कल्याणरूपोऽस्त्वित्यर्थः ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—मेरी चक्षुकी, हृदयकी तथा मनकी जो न्यूनता (दौर्बल्य) है, उसको देवगुरु (बृहस्पति) दूर करें। जो परमात्मा समस्त ब्रह्माण्डका स्वामी है वह मेरे लिए सुखस्वरूप हो ॥ २ ॥

भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३॥

म० भा०—विश्वामित्रदृष्टा सावित्री गायत्रीजपे विनियुक्ता। तदिति षष्ठ्यर्थे। तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तरपुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दादिवेदान्तप्रतिपाद्यं वयं धीमहि ध्यायामः। छान्दसं संप्रसारणम्। यद्वा मण्डलं पुरुषो रश्मय इति त्रयं भर्गः शब्दवाच्यम्। भर्गो वीर्यं वा। 'वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद्भर्गोऽपचक्राम वीर्यं वै भर्गः' (५।४।५।१) इति श्रुतेः। तस्य कस्य। यः सविता नोऽस्माकं धियः बुद्धीः कर्माणि वा प्रचोदयात्प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति तं च ध्यायामः। स च सवितैव। लिङ्गव्य-

त्ययेन योजना। सवितुर्देवस्य तत् भर्गो धीमहि । यो यत् भर्गो नो बुद्धीः प्रेरयति ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—आदित्यमण्डलस्थित सर्वान्तर्यामी परब्रह्मस्वरूप सवितृदेव के उस वरणीय (वरणयोग्य) स्वरूप का हम ध्यान करते हैं, जो सवितृदेव हमारी बुद्धिको सत्कर्म की ओर प्रेरित करते हैं ॥ ३ ॥

कया नश्चित्रऽ आभुवदूती सदावृधः सखा ।
कया शचिष्ठया वृता ॥४॥

म० भा०—तिस्रो गायत्र्य इन्द्रदेवत्या वामदेवदृष्टाः वामदेव्यसाम्नो योनिः 'वामदेव्यमात्मन्' इति श्रुतेः अन्त्या पादनिचृत् सप्ताक्षरत्रिपादा। पूर्वर्चः इन्द्रपदमनुषञ्जनीयम्। इन्द्रः कया ऊती ऊत्या अवनेन तर्पणेन प्रीणनेन वा नोऽस्माकं सखा सहायः आभुवत् आभिमुख्येन भवति । तथा वृता वर्तत इति वृत् तया वृता वर्णमानया शचिष्ठया अतिशयेन शची शचिष्ठा तया अतिशयवत्या यागक्रिययास्माकं सखा भवति । शचीति कर्मनाम तत इष्ठन्प्रत्ययः । कीदृश इन्द्रः। चित्रः विचित्रः पूज्यो वा। सदावृधः सदा वर्धत इति सदावृधः 'इगुपध–' (पा० ३।१।१३५) इति कप्रत्ययः । सदा वर्धमानः। ऊती तृतीयैकवचनस्य 'सुपां सुलुक्' (पा० ७।१।३९) इति पूर्वसवर्णः। अभुवत् 'इतश्चलोपः परस्मै पदेषु' (पा० ३।४।९७) इति तिप इलोपः शपश्छान्दसे ङित्वे धातोरुवङादेशः ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ—सर्वदा वर्द्धनशील एवं आश्चर्यस्वरूप हे इन्द्र ! तुम किस तर्पण, किस प्रीति अथवा किस यज्ञकर्म से हमारे सहायक हो सकते हो ? ॥ ४ ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो मत्सदन्धसः ।
दृढा चिदारुजे वसु ॥५॥

म० भा०—हे इन्द्र ! अन्धसोऽन्नस्य सोमरूपस्य कः अंशः त्वा त्वां मत्सत् माद्यति मत्तं करोति 'मदी हर्षे' 'लेटोऽडाटौ' (पा० ३।४।९४) इत्यडागमः 'सिब्बहुलं लेटि' (पा० ३।१।३४) सिप्प्रत्ययः तिप इलोपः । कीदृशः ।

मदानां मंहिष्ठः मदयन्ति तानि मदानि पचाद्यच् मदजनकानि हवींषि तेषां मध्ये मंहिष्ठः श्रेष्ठः अत्यन्तमदजनकः 'मंहि कान्तौ' चुरादिः मंहयति द्योतते मंही अत्यन्तं मंही मंहिष्ठः। यद्वा 'महि वृद्धौ' भ्वादिः। मंहते वर्धते मंही अत्यन्तं मंही मंहिष्ठः। येनांशेन मत्तः सन् दृढचित् दृढान्यपि वसु वसूनि धनानि कनकादीनि त्वमारुजे 'रुजो भङ्गे' पुरुषपदव्यत्ययः। आरुजसि चूर्णयसि दातुं भनक्षि। भङ्क्त्वा भङ्क्त्वा ददासीत्यर्थः॥ ५॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर! सोमरूप अन्नका वह कौन सा भाग है, जो कि मादक हवियों में श्रेष्ठ है और जो आप के विशेष सन्तुष्ट करता है। आपकी जिस प्रसन्नता में जो भक्त दृढ़ता से रहते हैं उन्हें आप धन [विभाग करके] प्रदान करते हैं॥ ५॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्।
शतं भवास्यूतिभिः॥ ६॥

म०भा०-हे इन्द्र! त्वमूतयेऽवनाय पालनाय सु सुष्ठु सम्यक् अभि आभिमुख्येन शतं भवासि भवसि। आडागमः। शतशब्दो बहुवाची। बहुरूपो भवसि। पालनाय नानारूपाणि दधासीत्यर्थः। कीदृशस्त्वम्। सखीनां मित्राणां जरितॄणां स्तोतॄणां नोऽस्माकमृत्विजामविता पालयिता। संहितायामभीत्यस्य दीर्घः। 'सुञः' (पा० ८।३।१०७) सुशब्दस्य षत्वम्। 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (पा० ८।४। २७) इति षुशब्दात् परस्य नः इत्यस्य णत्वम्॥ ६॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र! जो तुम्हारी मित्ररूप में स्तुति करते हैं तुम उन भक्तों की रक्षा के लिए अनन्त रूप धारण करते हो॥ ६॥

कया त्वं न ऽऊत्याभि प्रमन्दसे वृषन्।
कया स्तोतृभ्य ऽआभर॥ ७॥

म० भा०—इन्द्रदेवत्या गायत्री अनिरुक्तेन्द्रपदहीना। आद्यपादे व्यूहद्वयम्। हे वृषन् वर्षतीति वृषा हे सेक्तः इन्द्र, 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यभिधानम्। कया ऊत्या केन तर्पणेन हविर्दानेन नोऽस्मानभिप्रमन्दसे अभिमोदयसि। 'मदिस्तु

स्वपने जाड्ये मदे मोदे स्तुतौ गतौ' लट् । 'कया च ऊत्या तृप्त्या स्तोतृभ्यः स्तुतिकर्तृभ्यो यजमानेभ्यः आभर आहर आहरसि । धनं दातुमिति शेषः । तद्द्वयेन तथा वयं कुर्मं इति भावः । आभरेति लडर्थे लोट् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ—हे इन्द्र ! तुम किस स्तुति रूप हविर्दान से तृप्त होकर हमें आनन्दित करते हो तथा किस स्तुतिकर्ता यजमान को धन देते हो ? ॥ ७ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति ।
शं नो ऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ८ ॥

म० भा०—द्विपदा विराट् इन्द्रदेवत्या । विंशत्यक्षरा द्विपदा विराट् कथ्यते । विश्वस्य सर्वस्य जगतः इन्द्रः 'इदि परमैश्वर्ये' इन्दतीतीन्द्रः परमेश्वरः महावीरः आदित्यो वा यो राजति देदीप्यते ईष्टे वा स नोऽस्माकं द्विपदे । विभक्तिव्यत्ययः । द्विपदां पुत्रादीनां शं सुखरूपोऽस्तु । चतुष्पदे चतुष्पदां गवादीनां च शं सुखरूपोऽस्तु ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—जो परमेश्वर समस्त संसार के स्वामी हैं अथवा जो सूर्य समस्त संसार के प्रकाशक हैं, वह सूर्य हमारे द्विपद अर्थात् पुत्रादिकों के लिए तथा चतुष्पद अर्थात् गौ आदि पशुओं के लिए कल्याणकारी हों ॥ ८ ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न ऽइन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ९ ॥

म० भा०—द्वे अनुष्टुभौ मित्रवरुणादयो देवताः । मित्रो देवो नोऽस्माकं शं सुखरूपो भवतु महावीरप्रसादात् । मेद्यति भक्तेषु स्निह्यतीति मित्रः । वरुणः शं सुखरूपो भवतु । वृणोत्यङ्गीकरोति भक्तमिति वरुणः । अर्यमा नोऽस्माकं शं भवतु । इयर्ति गच्छति भक्तं प्रतीत्यर्यमा । इन्द्रो देवेशो नोऽस्माकं शं भवतु । बृहस्पतिर्देवगुरुर्नः शं भवतु । बृहतां वेदानां पतिः पालकः । उरुर्विस्तीर्णः क्रमः पादन्यासो यस्य स विष्णुः नोऽस्माकं शं भवतु । वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः ॥९॥

मन्त्रार्थ—मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति और विष्णु ये सभी देवगण हमारे लिए कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

शं नो वातः पवताꣳ शं नस्तपतु सूर्यः।
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो ऽअभिवर्षतु ॥ १० ॥

म० भा०—वातो वायुर्नोऽस्माकं शं सुखकारः अपरुषः अव्याधिजनकश्च पवतां वहताम्। 'पव गतौ' लोट्। सुवति जनान् स्व-स्वव्यापारेषु प्रेरयति सूर्यः शं सुखरूपोऽदहनो भेषजरूपश्च नोऽस्माकं तपतु किरणान्प्रसारयतु। पर्जन्यः पिपर्ति पूरयति जनमिति पर्जन्यः, परोम्भः पूरो जन्यतेऽनेन वा। 'पर्जन्यौ रसदब्देन्द्रौ' इत्यभिधानम्। पर्जन्यः पर्जन्येशो देवः नोऽस्माकं शं सुखकरं काशनिःसाररहितं यथा तथा अभिवर्षतु सिञ्चतु। कीदृशः। कनिक्रदत् अत्यन्तं क्रन्दतीति शब्दं कुर्वन् 'दाधर्ति दर्धर्ति—" (पा० ७।४।६५) इत्यादिना यङ्लुगन्तो निपातः ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—हमारे लिये वायु, सूर्य और वरुण कल्याणकारी हों अर्थात् वायु सुखस्वरूप बहें, सूर्य सुखप्रद करणों का प्रसार करें और वरुण सुवृष्टि प्रदान करें ॥ १० ॥

अहानि शं भवन्तु नः शꣳ रात्रीः प्रतिधीयताम्।
शं न ऽइन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न ऽइन्द्रावरुणा रातहव्या।
शं न ऽइन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥११॥

म० भा०—द्विपदा गायत्री। अहानि रात्रयश्च देवताः। अहानि दिनानि नोऽस्माकं शं सुखरूपाणि भवन्तु। रात्रीः शं सुखरूपाः अस्मासु प्रतिधीयतां प्रतिदधातु। महावीर इति शेषः। कर्तरि यक् छान्दसः। शं न इन्द्राग्नी त्रिष्टुप्। इन्द्राग्नी इन्द्रावरुणौ इन्द्रापूषणौ इन्द्रासोमौ देवताः। इन्द्राग्नी अवोभिः पालनैः कृत्वा नोऽस्माकं शं सुखरूपौ भवताम्। रातं दत्तं हव्यं ययोस्तौ रातहव्यौ हविस्तृप्तौ इन्द्रावरुणौ नः शं भवताम्। वाजसातौ वाजस्यान्नस्य सातौ दाने निमित्तभूते इन्द्रापूषणा इन्द्रपूषसंज्ञौ देवौ नोऽस्माकं सुखरूपौ भवताम्। इन्द्रासोमा इन्द्रसोमौ देवौ शं सुखरूपौ भवताम्। किमर्थम्। सुविताय सुष्ठु इतं सुवितम् साधुगमनाय साधुप्रसवाय वा। तथा शं रोगाणां शमनाय। योः यवनाय

पृथक्करणाय च भयानाम्। रोगं भयं च निवर्त्य सुखरूपौ भवतामित्यर्थः। 'देवताद्वन्द्वे च' (पा० ६।३।२६) इति सर्वत्रपूर्वपदस्य दीर्घः ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ—हमारे लिए दिन और रात्रि सुखस्वरूप हों। तथा इन्द्राग्नी, इन्द्रावरुण, इन्द्रपूषा और इन्द्रसोम-ये सभी देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। एवं हमारे रोग तथा भय को दूर कर सुखकारी हों ॥ ११ ॥

शं नो देवीरभिष्टय ऽआपो भवन्तु पीतये।
शं योरभिस्रवन्तु नः ॥ १२ ॥

म० भा०—अब्देवत्या गायत्री। देवीः देव्यो दीप्यमाना अपो नोऽस्माकमभिष्टये अभिषेकायाभीष्टाय वा पीतये पानाय च शं सुखरूपा भवन्तु। अस्माकं स्नाने पाने चापः सुखयित्र्यो भवन्तु। आपः शं योः रोगाणां शमनं भयानां यवनं पृथक्करणं च अभिस्रवन्तु। नोऽस्माकं भयरोगनाशं कुर्वन्त्वित्यर्थः ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ—प्रकाशमान जल हमारे अभिषेक अथवा अभीष्ट-सिद्धि के लिये सुखकर हों तथा हमारे रोग और भय के नाशक हों ॥ १२ ॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥

म० भा०—पृथिवीदेवत्या गायत्री मेधातिथिदृष्टा यजुरन्ता। अस्या अपि श्रौते विनियोगो नास्ति स्मार्ते स्रस्तरारोहणे शयने विनियोगः। तथाहि 'स्योना पृथिवि नो भवेति दक्षिणपार्श्वैः प्राक्शिरसः संविशन्तीति' (पार० ३।२)।

हे पृथिवि ! त्वं नोऽस्माकं स्योना सुखरूपा भव। किंभूता त्वम्। अनृक्षरा ऋक्षरः कण्टकः। 'ऋच्छतेः कण्टकः कन्तपो वा कण्टतेर्वा कृन्ततेर्वा स्याद्गतिकर्मणः' (निरुक्त ९।३२) इति यास्कः। तद्ग्रहणं चौरदायादादिदुःखनिवृत्त्यर्थम्। न सन्ति ऋक्षराः कण्टकाः दुःखदायिनो यस्यां सा अनृक्षरा। तथा निवेशनी निविशन्ति जनाः यस्यां सा निवेशनी साधुप्रतिष्ठाना 'करणाधिकरणयोश्च (पा० ३।३। ११७) इति ल्युट्। तथा सप्रथाः प्रथनं प्रथः विस्तारः प्रथसा सह वर्तमाना

सप्रथाः सर्वतः पृथुः । किंच नोऽस्मभ्यं शर्म शरणं यच्छ देहि । अतः परं यजुः तद्विनियोगो गृह्यसूत्रे संबन्धिमरणनिमित्ते स्नाने जलापनोदने । तथाहि 'सव्यस्यानामिकया अपनोद्याप नः शोशुचदघमिति' (पार० ३।१०) । इदं जलं नोऽस्माकमघं पापमपशोशुचत् अपशोचयतु दहतु ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ—हे पृथिवि ! तुम कण्टकहीन अर्थात् अकण्टकरूप पृथिवी में निवासस्थान देकर हमें अपनी शरण में लो ॥ १३ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्तानऽ ऊर्ज्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥१४॥

म० भा०—'आपो हि ष्ठेति पर्णकषायपक्वमुदकमासिञ्चति पिण्डे' (का०१६।३।१७)। पलाशत्वक्कथितं जलं पिण्डे ऋक्त्रयेण क्षिपेदिति सूत्रार्थः। अब्देवतास्तिस्रो गायत्र्यः सिन्धुद्वीपदृष्टाः । हि-शब्दः एवार्थः प्रसिद्ध्यर्थो यस्मादर्थो वा । हे आपः ! यूयमेव मयोभुवः सुखस्य भावयित्र्यः स्थ भवथ । मयः सुखं भावयन्ति प्रापयन्ति ता मयोभुवः यस्मात्कारणान्मयोभुवः स्थेति वा स्नानपानादिहेतुत्वेन सुखोत्पादकत्वमपां प्रसिद्धम् तास्तादृश्यो यूयं नोऽस्मानूर्जे रसाय भवदीयरसानुभवार्थं दधातन स्थापयत । 'तप्तनप्तनथनाश्च' (पा० ७।१।४५) इति लोण्मध्यमबहुवचनस्य तनबादेशे दधातनेति रूपम् । यथा वयं सर्वस्य भोग्यस्य रसस्य भोक्तारो भवेम तथास्मान्कुरुतेति भावः । किंच महे महते रणाय रमणीयाय चक्षसे दर्शनाय चास्मान्दधातनेत्यनुवर्तते । मद्रमणीयं दर्शनं ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं तदस्माकं कुरुत । अस्मान् ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यान्कुरुतेति भावः । ऐहिकपारलौकिकसुखं ददतेत्यृचो भावः । 'मह पूजायाम्' मह्यते पूज्यत इति मट् क्विप् प्रत्ययः तस्मै महे । 'रण शब्दे' रण्यते स्तूयते सर्वैरिति रणम् तस्मै रणाय । चष्टे पश्यति सर्वं येन इति चक्षुः चक्षतेरसुन्प्रत्ययः । तस्मै चक्षसे । 'यस्मिन्ज्ञाते सर्वं विज्ञातं स्यात्' इति छान्दोग्यश्रुतेः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ—हे जल-समूह ! तुम [स्नान-पानादि के कारण] सुख के देने वाले रसस्थापक हो और तुम अत्यन्त रमणीय एवं दर्शनीय हो ॥ १४ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥१५॥

म० भा०—हे आपः! वो युष्माकं यः शिवतमः शान्ततमः सुखैकहेतू रसोऽस्ति इहास्मिन्कर्मणि इह लोके वा स्थितान्नोऽस्मान् तस्य रसस्य भाजयत भागिनः कुरुत। तं रसं प्रापयतेति भावः। कर्मणि षष्ठी। तत्र दृष्टान्तः। उशतीर्मातर इव उशन्ति ता उशत्यः 'वा छन्दसि' (पा० ६।१।१०६) इति दीर्घः। 'वश कान्तौ' इत्यस्माच्छतृप्रत्ययान्तात् 'उगितश्च' (पा० ४।१।६) इति ङीप्। उशत्यः कामयमानाः प्रीतियुक्ता मातरो यथा स्वकीयस्तन्यरसं बालं पाययन्ति तद्वत् ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलसमूह! तुम्हारा जो सुखकारी शान्तमय रस है, उस रसका हमें भी भागी बनाओ। जिस प्रकार प्रेमसे माता अपने बालकों को स्तनद्वारा दुग्धपान कराती हैं उसी प्रकार हमें भी जल प्रदान कर अमृतरूपी मधुररस का पान कराओ ॥ १५ ॥

तस्मा ऽअरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥१६॥

म० भा०—अलमिति प्राप्ते लकारस्य रेफश्छान्दसः। हे आपः! वो युष्मत्संबन्धिनस्तस्य पर्याप्तिं वयं गमाम गच्छेम। पर्याप्तिर्नाम रसविषये वैतृण्यं सदातृप्तिर्वा। तस्मै इति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। यस्य क्षयाय जिन्वथ 'क्षयो निवासे' (पा० ६।१।२०१) इत्याद्युदात्तत्वात् क्षयशब्देन निवासः। क्षयायेति चतुर्थी षष्ठ्यर्थे। यस्येत्यनेन सामानाधिकरण्यात्। क्षयस्य निवासस्य जगतामाधारभूतस्य यस्याहुतिपरिणामभूतस्य रसस्यैकदेशेन यूयं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् जिन्वथ तर्पयथ। जिन्वतिः प्रीतिकर्मा। पञ्चाहुतिपरिणामक्रमेणेति भावः। किंच हे आपः! नोऽस्मान् तत्र भोक्तृत्वेन जनयथ उत्पादयत। आशिषि लोट् तद्रसभोक्तृनस्मान् कुरुतेत्याजानदेवत्वमाशास्यते इति भावः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (पा० ६।३।१३७) इति संहितायां दीर्घः। यद्वास्या ऋचोऽयमर्थः। यस्य क्षयाय क्षयेण निवासेन यूयं जिन्वथ प्रीता भवथ तस्मै रसाय तद्रसाप्तये वो युष्मानरमत्यर्थं

वयं गमाम प्राप्नुमः । किंच हे आपः ! यूयं नोऽस्मान् जनयथ प्रजोत्पादनसमर्थान् कुरुथ । गच्छतेर्लुङि उत्तमबहुवचनेऽगमामेति रूपम् । अडभाव आर्षः 'बहुलं छन्दसि' (पा० २।४।७३) इति शपो लुकि लोटि वा रूपम् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—हे जलसमूह ! तुम सर्वदा समस्त लोकोंमें गमनशील हो। क्योंकि तुम्हारे ही निवाससे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीवित है । अतः हमें भी अपने मधुर जल द्वारा प्रजोत्पादन के समर्थ करो ॥ १६ ॥

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः
शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे
देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥

म० भा०—यजूंषि सदृशि जीव्यासमित्यन्तानि (कं० १९)। एकाधिका शक्करी । द्यौः द्युलोकरूपा या शान्तिः अन्तरिक्षरूपा च या शान्तिः पृथिवी भूलोकरूपा या शान्तिः आपो जलरूपा या शान्तिः ओषधयः ओषधिरूपा या शान्तिः वनस्पतयः वृक्षरूपा या शान्तिः विश्वेदेवाः सर्वदेवरूपा या शान्तिः ब्रह्म त्रयीलक्षणं परं वा तद्रूपा या शान्तिः सर्वं सर्वजगद्रूपा या शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः या स्वरूपतः शान्तिः सा शान्तिः सा मां प्रति एधि अस्तु । पुरुषव्यत्ययः । महावीरप्रसादात् सर्वं शान्तिरूपं मां प्रत्यस्त्वित्यर्थः । यद्वा द्यौरित्यादिषु विभक्तिव्यत्ययः सप्तम्यर्थे प्रथमा । दिव्यन्तरिक्षे पृथिव्यामप्स्वोषधिषु वनस्पतिषु विश्वदेवेषु ब्रह्मणि सर्वस्मिंश्च या शान्तिः सा मां प्रत्यस्त्वित्यर्थः ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ—द्युलोक (स्वर्गलोक) रूपा शान्ति, अन्तरिक्ष (आकाश) रूपा शान्ति, पृथिवीरूपा शान्ति, जलरूपा शान्ति, औषधरूपा शान्ति, वनस्पतिरूपा शान्ति, विश्वदेवरूपा शान्ति, ब्रह्म (वेद) रूपा शान्ति, समस्त संसाररूपा शान्ति और जो स्वभावतः शान्ति है, वह शान्ति हमें प्राप्त हो ॥ १७ ॥

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥

म० भा०—दृते 'दृ विदारे' विदीर्णे जराजर्जरितेऽपि शरीरे हे महावीर ! मा मां त्वं दृंह दृढीकुरु । यद्वा दृते विदीर्णे कर्मणि मां दृंह अच्छिद्रं कर्म कुरु । यद्वा सशुषिरत्वात् सेक्तृत्वाच्च दृतिशब्देन महावीरः । हे दृते महावीर ! मां दृंह दृढीकुरु । कथं दार्ढ्यं तदाह । सर्वाणि भूतानि प्राणिनो मा मां मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्तां सम्यक् पश्यन्तु मित्रदृष्ट्या सर्वे मां पश्यन्तु नारिदृष्ट्या । सर्वेषां प्रियो भूयासमित्यर्थः । किंच अहमपि सर्वाणि भूतानि मित्रस्य चक्षुषा समीक्षे पश्यामि सर्वे मे प्रियाः सन्तु । मित्रचक्षुः शान्तं भवति । मित्रः कंचन न हन्ति मित्रं च कश्चन न हन्ति एवं परस्पराद्रोहेण सर्वानहिंसन्तो मित्रस्य चक्षुषा वयं समीक्षामहे पश्यामः ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर (हे महावीर) ! तुम हमारी वृद्धावस्था के कारण निर्बल शरीर होने पर हमें बलवान् बनाओ । समस्त प्राणी हमको मित्र की दृष्टि से देखें और हम भी उन्हें मित्र की दृष्टि से देखें । परस्पर में मैत्रीभाव होने से हम लोग सबको मित्र की दृष्टि से देखेंगे ॥ १० ॥

‡दृते दृꣳह मा । ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते
सन्दृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

म० भा०—हे दृते वीर, मां दृंह । आदरार्थं पुनर्वचनम् । हे महावीर ! ते तव संदृशि संदर्शने अहं ज्योक् चिरं जीव्यास जीवेयम् । जीवेराशीर्लिङि रूपम् । ज्योगिति निपातश्चिरार्थः । पुनरुक्तिरादरार्था । ते संदृशि ज्योग्जीव्यासम् ॥१९॥

मन्त्रार्थ—हे भगवन् (हे वीर) ! हमें दृढ़ करो । हम तुम्हारे दर्शन से दीर्घजीवी होंगे ॥ १९ ॥

---

‡ इस मन्त्र में 'ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्' यह पद दो बार आया है । महीधर ने उक्त पदद्वय की पुनरुक्ति आदरार्थक स्वीकार की है । दोनों पदों का अर्थ समान होने के कारण हिन्दी-मन्त्रार्थ में केवल एक पद का अर्थ लिखा गया है ।

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते ऽअस्त्वर्चिषे ।
अस्याँस्ते ऽअस्मत्तपन्तु हेतयः
पावको ऽअस्मभ्यठं॰ शिवो भव ॥ २० ॥

स० भा०—'उभयमादाय चित्यारोहणं नमस्त इति' (का० १८।३।५) हिरण्यशकलसहितं स्रुक्स्थमाज्यं दधि-मधु-घृत-कुशमुष्टियुता पात्री एतद् द्वयमादायाध्वर्युश्चित्याग्निमारोहति । ब्रह्मयजमानौ तु अग्नेर्दक्षिणत उपविशत इत्यर्थः । आग्नेयी बृहती लोपामुद्राहष्टा । हे अग्ने ! ते तव शोचिषे शोचनहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । कीदृशाय शोचिषे । हरसे हरति सर्वरसानिति हरः तस्मै । हरतेरसुन्प्रत्ययः । ते तव अर्चिषे पदार्थप्रकाशकाय तेजसे नमोऽस्तु । अन्यदुक्तम् । (शु० य० १७।११)

हे अग्ने ! ते तव हेतयो ज्वाला अस्मत्सकाशादन्यान् अस्मद्विरोधिनः पुरुषान् तपन्तु क्लेशयन्तु । अस्मभ्यमस्मदर्थं पावकः शोधकः शिवः शान्तश्च भव । (शु० य० १७।७) ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ—हे अग्ने ! तुम्हारे तेज को नमस्कार है । समस्त रसों के संशोधन करने वाले तुम्हारे तेज को नमस्कार है । समस्त पदार्थों में प्रकाश करने वाले तुम्हारे तेज को नमस्कार है । तुम्हारी ज्वाला हमारे विरोधियों के लिये क्लेश देने वाली हो और हमारे लिये शान्त अर्थात् कल्याण देनेवाली हो ॥ २० ॥

नमस्ते ऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

स०भा०—द्वे अनुष्टुभौ विद्युत्स्तनयित्नुरूपभगवद्देवते । हे भगवन् महावीर ! विद्युते विद्युद्रूपाय ते तुभ्यं नमोऽस्तु । स्तनयित्नवे स्तनयित्नुर्गर्जितं तद्रूपाय ते नमोऽस्तु । यतः कारणात् स्वः स्वर्गं गन्तुं त्वं समीहसे चेष्टसे अतस्ते तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ—हे भगवन् (महावीर) ! विद्युत्-स्वरूप तुमको नमस्कार है ।

स्तनयित्नु-स्वरूप अर्थात् मेघस्वरूप तुमको नमस्कार है। जिस कारण तुम स्वर्ग जाने की चेष्टा करते हो, तदर्थं तुमको नमस्कार है ॥ २१ ॥

यतो यतः समीहसे ततो नो ऽअभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ २२ ॥

स० भा०—हे महावीर ! यतो यतः यस्माद्यस्माद् दुश्चरितात्त्वं समीहसे अस्मास्वपकर्तुं चेष्टसे ततस्ततो नोऽस्माकमभयं कुरु। किंच नोऽस्माकं प्रजाभ्यः शं सुखं कुरु। नोऽस्माकं पशुभ्यः चाभयं भीत्यभावं कुरु ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर (महावीर) ! तुम जिन दुश्चरित्रों को हमसे हटाकर सर्वदा उपकार की चेष्टा करते हो, उनसे हमें भयमुक्त करो। तुम हमारी सन्तानों को सुख दो और हमारे पशुओं को भी भयमुक्त करो ॥ २२ ॥

सुमित्रिया न ऽआप ऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै
सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ २३ ॥

स० भा०—सुमित्रियाः आपः ओषधयश्च नोऽस्माकं सुमित्रियाः साधुमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। यः शत्रुरस्मान्द्वेष्टि वयं च यं शत्रुं द्विष्मः द्वेषं कुर्मः तस्मै उभयात्मकाय शत्रवे आप ओषधयश्च दुर्मित्रियाः अमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। सुमित्रिया इति मन्त्रोऽपामभिमन्त्रणे वा ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ—हे परमेश्वर ! जल और औषधियाँ हमारे लिए अच्छे मित्रकी तरह अवस्थित हों। जो हमसे द्वेष करते हैं अथवा हम जिनसे शत्रुता करते हैं, ऐसे हम दोनों (उभयपक्ष) के लिये जल और औषधियाँ सुखरूपेण अवस्थित हों ॥ २३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम
शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः
शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम

शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥२४॥

म०भा०—सूर्यदेवत्या ब्राह्मी त्रिष्टुप्। एतैर्मन्त्रैर्यो महावीरोऽस्माभिः स्तुतः तत् चक्षुः जगतां नेत्रभूतमादित्यरूपं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उच्चरत् उच्चरति उदेति 'इतश्चलोपः परस्मै पदेषु' (पा० ३।४।९७) इतीकारलोपः। कीदृशं तत्। देवहितं देवैर्हितं स्थापितम्। यद्वा देवानां हितं प्रियं शुक्रं शुक्लं पापासंसृष्टं शोचिष्मद्वा। तस्य प्रसादात् शतं शरदः वर्षाणि वयं पश्येम शतवर्षपर्यन्तं वयमव्याहतचक्षुरिन्द्रिया भवेम। प्रार्थनायां लिङ्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। शतं शरदः जीवेम अपराधीनजीवना भवेम। शतं शरदः शृणुयाम स्पष्टश्रोत्रेन्द्रिया भवेम। शतं शरदः प्रब्रवाम अस्खलितवागिन्द्रिया भवेम। शतं शरदः अदीनाः स्याम न कस्याप्यग्रे दैन्यं कुर्याम। शतात् शरदः शतवर्षोपर्यपि भूयश्च बहुकालं पश्येमेत्यादि योज्यम्॥ २४॥

[इति शुक्लयजुर्वेदे षट्त्रिंशदध्यायः (शान्त्यध्यायः)।]

मन्त्रार्थ—देवताओं के हितकारी अथवा प्रिय परमेश्वर का जो चक्षुभूत सूर्य का तेज पूर्वदिशा में उदित होता है, वह हमें जीवनपर्यन्त अव्याहत चक्षुसम्पन्न रखे, जिससे हम उन्हें भलीभाँति देख सकें। हम सौ वर्ष पर्यन्त जीवें, सौ वर्ष पर्यन्त सुनें और सौ वर्ष पर्यन्त बोलें। हम सौ वर्ष पर्यन्त दैन्य होकर न रहें अर्थात् हमें कभी किसीसे कुछ माँगना न पड़े। हम सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहें॥ २४॥

(यह शुक्ल यजुर्वेद का ३६ वाँ शान्त्यध्याय समाप्त हुआ।)

इति वैदिकसूक्तसंग्रहः समाप्तः।